प्राक्कथन

हमें बडो प्रसन्नता है कि धार्मिक शिक्षण के लिए कॉन्फ्रेन्स की ओर से तैयार की गई जैन पाठावली के तृतीय भाग की यह तृतीयावृत्ति श्री तिलोक रत्न स्था जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। पाठ्य-पुस्तक के रूप में जैन समाज ने पाठावली का जो मूल्यांकन किया है वह इस तृतीयावृत्ति से प्रमाणित हो जाता है। हमारे लिए यह हर्ष का विषय है।

बालको को जैन संस्कृति और जैन तत्त्वज्ञान का सरलता से बोध कराने के लिए ऐसे सर्वमान्य पाठ्यक्रम की मांग कॉन्फ-रेन्स से होती रहती थी। फलस्वरूप यह पाठावली श्री धार्मिक शिक्षण समिति द्वारा श्री संतबालजी से तैयार कराई गई है।

जैनशाला, छात्रालय और स्कूलों में क्रमश शिक्षण दिया जा सके और उत्तरोत्तर बालक धार्मिक ज्ञान प्राप्त कर सके इस तरह इस पाठावली के ७ भाग किये गये हैं।

हम आशा करते हैं कि जहां २ अभी तक इस पाठावली को अपने पाठ्यक्रम में स्थान नहीं दिया गया है वहां २ सभी स्कूल, पाठशाला और छात्रालय यथा शीघ्र इसे अपना लेगें और बालकों के कोमल हृदय पर जैन संस्कृति की गहरी छाप डालने में सहायक बनेगे।

मानद्-मन्त्री
श्री अ. भा. श्वे. स्था. जैन कोन्फ्रेंन्स

प्रकाशक की ओर से

श्री तिलोक रत्न स्था जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी और श्री अ भा श्वे. स्था जैन कॉन्फरेन्स द्वारा तैयार कराई गई जैन पाठावली को बोर्ड ने अपने पाठ्यक्रम में स्थान देने का निश्चय किया। कॉन्फ्रेन्स ने भी पाथर्डी बोर्ड को अपनी मान्यता प्रदान करते हुए पाठावली के सातो भागो के हिन्दी और गुजराती सस्करणो का प्रकाशन करने की सम्मति, बोर्ड के पुस्तक प्रकाशन विभाग को देकर एक बडी उदारता प्रकट की है।

तदनुसार जैन पाठावली भाग ३ का तृतीय सस्करण प्रकाशित करते हुए हमे महान् प्रमोद हो रहा है।

जालना (निझाम स्टेट) निवासी श्रीमान् फूलचन्द जवेरचन्द शाह शतश धन्यवाद के पात्र है जिनके आर्थिक सहयोग से इस पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। आपका अन्त.करण धार्मिक कार्यों की ओर विशेष रहा करता है। पाथर्डी परीक्षा बोर्ड सिद्धान्तशाला पुस्तकालय, श्रीवर्द्धमान जैन धर्म शिक्षण प्रचारक सभा और श्री तिलोक जैन हायस्कूल मे आपने बहुमोल सहायता पहुँचाई है। आप सरल स्वभाव के उत्साही सद्गृहस्थ हैं। आपकी धार्मिक प्रवृत्ति सदैव वर्द्धमान रहे इसी शुभ-भावना के साथ प्राप्त सहयोग के लिये शतश. आभार प्रकट करते हैं।

पं. बदरीनारायण शुक्ल   पं शोभाचन्द्र भारिल्ल

प चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी

मन्त्री—पुस्तक प्रकाशन विभाग

श्री ति र स्था जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

श्री वर्द्धमान स्था. जैन श्रमण संघ के साहित्य शिक्षा-संचालक पंडित रत्न मुनिश्री सुशीलकुमारजी म. का

卐 अभिमत 卐

बालक और जिज्ञासु कोरी और खुली किताब है, उसमे जिस प्रकार की सस्कार पक्तियाँ लिख दी जायेगी वे ही उभर आयेगी और पुस्तक का शरीर बन जायेगी। यह एक परम सत्य है, यदि आप इसकी यथार्थता स्वीकार करते है तो विश्व के भावी कर्णधारो और धर्म के भावी सैनिको में सच्चे सस्कार डालने का मधुर प्रयास करिये।

धन्यवाद है उस पाथर्डी बोर्ड और उसके सस्थापको को जिन्होने आर्हती सस्कृति को सदा जिन्दा बनाये रखने के लिए इस प्रकार की आवश्यक सस्था खडी की।

जैन पाठावली का यह तृतीय भाग आपके सामने है। भाषा और भाव मे परिवर्तन-परिवर्द्धन की आवश्यकता दिखाई देते हुए भी समय की स्वल्पता के कारण पूर्ववत् ही प्रकाशित करना पसन्द किया गया है। भविष्य मे सर्वांगीण गुणो से सुसज्ज पाठावली आप तक पहुँचाने में समर्थ हो सकूंगा, इसी भावना के साथ——

——मुनि सुशील

❀ विषयानुक्रमणिका ❀

तत्त्व विभाग

कथा विभाग

काव्यविभाग



जैन पाठावली

(तीसरा भाग)

सूत्रविभाग

पहला पाठ

आवश्यक

जैनो के लिए जिन धार्मिक क्रियाओ को प्रतिदिन करना आवश्यक है, उन क्रियाओ का समावेश 'आवश्यक' में किया गया है।

आवश्यक अर्थात् करने योग्य जरूरी काम। ऐसे जरूरी काम शास्त्र मे छ. बतलाये गये है। इन छः कामो या क्रियाओ का वर्णन 'आवश्यकसूत्र' में किया गया है। जैनो के मूल आगम–सूत्र बत्तीस हैं। उनमे आवश्यकसूत्र अतिम है। छह आवश्यक इस प्रकार हैः–

(१) सामायिक (२) चतुर्विशतिस्तव (चउवीसंथवो) (३) वंदना (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान।

(१) सामायिक के विषय मे तुम काफी जान चुके हो। मन को समभाव में रखने की क्रिया 'सामायिक' कहलाती है। हम लोगो को दिन भर वहुत-से कामो मे लगा रहना पडता है। फिर भी २ घडी (४८ मिनिट) सामायिक के लिये नियत कर ही लेना चाहिए, जिससे हमारा मन पवित्र वने। अच्छी भावनाएँ आवे और दूसरो पर दया तथा प्रेम उत्पन्न हो। इस प्रकार सामायिक एक उत्तम क्रिया गिनी जाती है।

(२) दूसरी क्रिया 'चउवीसथवो' कहलाती है। इसमे चौवीसो तीर्थंकर भगवान् की स्तुति की जाती है। भगवान् की स्तुति करने से हमे वैसा ही वनने की इच्छा होती है।

(३) तीसरी आवश्यक क्रिया 'वंदना' है। इस आवश्यक मे गुरु को वदना की जाती है। वदना अर्थात् अपनी शुभ भावना और नम्रता दिखलाने की रीति।

(४) चौथा आवश्यक 'प्रतिक्रमण' है। प्रति अर्थात् पीछा और क्रमण अर्थात् फिरना। प्रतिक्रमण का अर्थ हुआ-'पीछे फिरना।

जव हम दूसरे गाँव को जाना चाहते है तो पहले दिशा देख लेते हैं। फिर भी इस वात की सावधानी रखते हैं कि कही राह भूल न जाएँ। इतने पर भी दूसरो से रास्ता पूछ-पूछ कर चलते है। फिर भी अगर रास्ता भूल जाएँ तो उसी समय वापिस लौट कर ठीक रास्ते पर आ जाते है। इसी

तरह हम लोग मोक्ष मे जाना चाहते हैं। मोक्ष में जाने के लिए छ आवश्यक उपयोगी है। हम से कोई भूल होती है तो हमे दुख होता है और फिर ऐसी भूल न करने की इच्छा होती है। इसी लिए **प्रतिक्रमण सावधानी का मुख्य मार्ग है।**

(५) पाँचवाँ आवश्यक 'काउस्सग्ग' है। काया (देह) का भी मोह छोडकर धर्मध्यान मे स्थिर होना 'काउस्सग्ग' या 'कायोत्सर्ग' कहलाता है।

(६) छठा आवश्यक 'पच्चक्खाण' है। इसे प्रत्याख्यान भी कहते है। त्याग का नियम लेना प्रत्याख्यान कहलाता है।

इन छहो आवश्यकोका आशय यह है, कि हम असत्य का त्याग करके सत्य को ग्रहण करे।

यद्यपि ये छहो आवश्यक जुदा-जुदा हैं, फिर भी प्रतिक्रमण उनमें मुख्य है। प्रतिक्रमण में बहुत-सी जानने योग्य वस्तुएँ हमे मिलती है।

ऊपर बतलाये हुए आवश्यको को स्वतंत्र रूप से अलग-अलग किया जा सकता है। सामायिक चाहे जब की जा सकती है। पच्चक्खाण भी चाहे जब किया जाता है। लेकिन एक साथ सब आवश्यक करने से सुविधा भी रहती है और अधिक आनन्द भी आता है। इसी कारण प्रतिक्रमण करते समय सभी आवश्यक एक साथ किए जाते है।

छह आवश्यको का क्रम ऊपर बतलाया गया है, उसमे

विशेष प्रयोजन है। इस विषय मे आगे चलकर कहा जायगा।

शास्त्र मे, प्रतिदिन दो वार प्रतिक्रमण करने का विधान है–सुबह और शाम को। शाम के प्रतिक्रमण मे दिन सम्बधी दोषो की और सुबह के प्रतिक्रमण मे रात्रि के समय किये हुए दोषो की क्षमा–याचना की जाती है।

इसके अतिरिक्त [1]पाक्षिक प्रतिक्रमण, [2]चातुर्मासिक प्रतिकमण और [3]सावत्सरिक प्रतिकमण, इस तरह प्रतिकमण के भेद किये गये है।



दूसरा पाठ

प्रथम आवश्यक--सामायिक

सूचना–जिन्हे दो घडी तक की पूरी सामायिक करनी होती है वे पहले से सामायिक लेकर ही बैठते हैं। ऐसा करना ठीक भी है। क्योंकि विधिपूर्वक प्रतिक्रमण करने मे दो घडी का समय लग जाता है। अतएव सामायिक लेकर ही प्रतिक्रमण करना अधिक अच्छा है।

---

१ प्रतिमास सुदीपूर्णिमा और वदी अमावस को किया जाता है।

२ कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ की पूर्णिमा को किया जाता है।

३ प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला ५ (सवत्सरी) को किया जाता है।

सामायिक लेकर वैठने के वाद, प्रतिक्रमण को प्रारभ करते समय, खडे होकर, हाथ जोडकर, विधि के साथ, तीन वार वदना करके, पहले आवश्यक की आज्ञा माँगनी चाहिए।

वदना करते समय एक वात ध्यान मे रखनी चाहिए। अगर हम साधु-मुनिराजो की मौजूदगी में वैठे हो तो उन्हे वंदना करनी चाहिए। साधु–मुनिराज न हो तो पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके श्रीसीमधर स्वामी को वन्दना करनी चाहिए।

आज्ञा लेने के वाद खडे होकर वे पाठ वोलने चाहिए, जिन्हे तुम सामायिक की विधि मे सीख चुके हो। इसे 'क्षेत्र–विशुद्धि' कहते हैं। प्रतिक्रमण की आज्ञा माँगने के वाद, प्रथम आवश्यक में नीचे के पाठ वोलने चाहिए –

१–'इच्छामि ण भन्ते!' का पाठ।
२–'करेमि भन्ते!' का पाठ।
३–'इच्छामि ठामि काउस्सग्ग' का पाठ।
४–'तस्स उत्तरी' का पाठ वोलकर
५–काउस्सग्ग मे ९९ अतिचारो का चिन्तन करना और नवकार मन्त्र का पाठ वोलकर काउस्सग्ग पूरा करना।

यह सामायिक आवश्यक प्रतिक्रमण के साथ ही है। इसलिए कितनेक स्थलो मे, काउस्सग्ग मे चार लोगस्स के वदले निन्यानवे अतिचारो के चिन्तन का रिवाज है। ये सव अतिचार चौथे आवश्यक में वतलाए जाएँगे।

इतनी विधि के वाद पहला आवश्यक पूर्ण हो जाता है।

'इच्छामि णं भन्ते' का पाठ

इच्छामि णं भन्ते! तुब्भेहि अब्भणुण्णाएसमाणे ※ देवसियं पडिक्कमणं ठाएमि, ※देवसिय नाण–दंसण–चरित्ताचरित्त-तव–अइयार–चितवणत्थं करेमि काउस्सग्गं।

मूल	अर्थ
भन्ते–	हे पूज्य!
तुब्भेहि–	आपके द्वारा
अब्भणुण्णाएसमाणे–	आज्ञा मिलने पर
देवसियं पडिक्कमणं–	दिवस सबधी प्रतिक्रमण को
ठाइउं इच्छामि–	करने की इच्छा करता हूँ
देवसिय नाण–दंसण–	दिवस सम्बन्धी ज्ञान दर्शन
चरित्ताचरित्त-तव-	देश, चारित्र और तप के
अइयार–चितवणत्थं-	अतिचार का चिन्तन करनेके लिए
करेमि काउस्सग्गं-	कायोत्सर्ग करता हूँ

विवेचन—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये आत्मा के मूल स्वभाव को प्राप्त करने के साधन है। आत्मा अपने

※ सायकाल के प्रतिक्रमण से देवसिय बोला जाता है।

प्रात काल के	,,	राइय	,,	,,
पाक्षिक	,,	पक्खिय	,,	,,
चौमासी	,,	चाउम्मासिय		,,
सवत्सरी	,,	सवच्छरिय		,,

मूल स्वभाव को भूला हुआ है। इसी कारण आत्मा संसार में भटक रहा है और कष्ट पाता है। इसलिए यहाँ मूल स्वभाव का स्मरण करने का विचार है। आत्मा की पहिचान, ज्ञान प्राप्त करने के आठ नियमो का (जिनका वर्णन आगे किया जायगा) बराबर पालन करने से और चौदह अतिचारो का त्याग करने से होती है।

दर्शन के अनेक अर्थ हैं। सामान्य ज्ञान भी दर्शन कहलाता है और श्रद्धा को भी दर्शन कहते है। श्रद्धा को मजबूत बनाने के लिए आठ नियमो का ध्यान रखना पडता है और उनका पालन करना पडता है। उनके विषय मे अगर कोई अतिचार लगा हो, कोई भूल हुई हो तो उसे दूर कर देना चाहिए। ऐसा करने से सच्ची श्रद्धा बढती है।

चारित्र का अर्थ है, आत्मा मे रमण करना, व्रतो का पालन करना, जीवन की कला को समझना और मृत्यु के अवसर पर समभाव धारण करके मृत्युको सुधारना। चारित्र मे लगने वाले दोपो से दूर रहना। ऐसा करने से चारित्र-गुण बढता है। साधु के व्रतो को चारित्र कहते है और श्रावक के व्रत चरित्ताचरित (चारित्र-अचारित्र अर्थात् एकदेश चारित्र) कहलाते हैं।

तप, कर्मरूपी लकडियो को जलाने की भट्ठी है। तप के २ भेद है-बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। दोनो तरह के तपो का ठीक-ठीक पालन करने से और उनमे किसी प्रकार का दोप न लगने देने से तप विकसित होता है।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप– ये चारो मोक्ष के मार्ग है। इनका विशेष विवरण आगे दिया जायगा।

इस पाठ द्वारा गुरुदेव से दिवस–सबधी प्रतिक्रमण करने की आज्ञा मांगी जाती है ज्ञान, दर्शन,चारित्र और तप की प्रार्थना करते हुए, अपने से हुई भूलो को समझने के लिए 'काउस्सग्ग' करने की इच्छा की गई है।

पाठ तीसरा

इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं

(अतिचार चिन्तन की इच्छा)

पाठ का हेतु :–

इस पाठ मे दिवस सम्बन्धी दोषो की आलोचना है। आलोचना अर्थात् विचार या खोज। अपने आपकी खोज करना अपनी असलियत का विचार करना। जैसे मैं जैन श्रावक हूँ मुझे श्रावक के व्रतो का पालन करना ही चाहिए। जैन सूत्रो का स्वाध्याय करना ही चाहिए। सत्य के मार्गपर चलना ही चाहिए। जो कर्त्तव्य कार्य है वह मेरे द्वारा होना ही चाहिए। ज्ञान, दर्शन और श्रावक के चारित्र सम्बन्धी व्रतो को पालना ही चाहिए। मुझे शुभ ध्यान धरना चाहिए। अशुभ ध्यान त्यागना चाहिए।

अगर ऐसा न हुआ हो तो इस बात का विचार करके भविष्य मे फिर कभी ऐसा न हो और इस समय जो कुछ हो गया है उसका फल मुझे न मिले, इस प्रकार की भावना करने का यह पाठ है:–

मूल पाठ

इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं, जो मे देवसिओ अइयारो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ, अणायारो अणिच्छियव्वो, असावगपाउग्गो, नाणे तह दंसणे, चरित्ता-चरित्ते, सुए, सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं पंचण्हमणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं वारसविहस्स सावगधम्मस्स जं खंडियं, जं विराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

मूल	अर्थ
इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं-	कायोत्सर्ग मे स्थिर होने की इच्छा करता हूँ
जो मे देवसिओ--	मैंने दिन सम्बन्धी जो
अइयारो कओ--	अतिचार (सेवन) किया हो
काइओ--	काया संबधी (अविनय करना आदि)
वाइओ--	वचन संबधी (असत्य बोलना, अप-शब्द बोलना)
माणसिओ--	मन सम्बन्धी (क्रोध करना, बुरी इच्छा करना आदि)
उस्सुत्तो--	सूत्र से विरुद्ध वर्त्ताव किया हो
उम्मग्गो--	गलत मार्ग अख्तियार किया हो

मूल	अर्थ
अकप्पो–	अकल्पनीय काम किया हो।
अकरणिज्जो–	न करने योग्य काम किया हो
दुज्झाओ–	खराव ध्यान (आर्त्त और रौद्र ध्यान) किया हो।
दुव्विचिंतिओ–	अशुभ चिंतन किया हो
अणायारो–	आचरण न करने योग्य काम का आचरण किया हो
अणिच्छियव्वो–	अनिच्छनीय की इच्छा की हो
असावगपाउग्गो–	श्रावक को न शोभे, ऐसा कृत्य किया हो
नाणे तह दंसणे–	ज्ञान और सम्यक्त्व के विषय में
चरित्ताचरित्ते–	श्रावक के चरित्र के विषय में
सुए, सामाइए–	सूत्र धर्म और सामायिक के विषय में
तिण्हं गुत्तीणं–	*तीन गुप्ति सम्बन्धी
चउण्हं कसायाणं–	× चार कषायों द्वारा

* तीन गुप्ति– (१) मनगुप्ति (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति। गुप्ति का अर्थ है-गोपना अर्थात् खराव रास्ते जाते हुए को रोकना।

× चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ। कष्+आय जिसमें मैल चिपके वह कषाय है। क्रोध आदि से आत्मा में कर्म रूपी मैल चिपकता है, इसलिए ये कषाय कहलाते हैं। इनके द्वारा जो पाप हुआ हो।

मूल	अर्थ
पंचण्हं अणुव्वयाणं–	पाच ¹अणुव्रतो का
तिण्हं गुणव्वयाणं–	तीन ²गुणव्रतो का
चउण्ह सिक्खावयाणं–	चार ³शिक्षाव्रतो का
वारसविहस्स सावगधम्मस्स–	वारह ⁴प्रकार के श्रावकधर्म का

१ अणुव्रत अर्थात् छोटे व्रत। साधुओ के व्रत महाव्रत कहलाते हैं, क्योकि उनमें हिंसा, असत्य आदि पापो की, किसी भी प्रकार की छूट नही रहती–हिंसा आदि का जीवनपर्यन्त पूर्ण रूप से त्याग किया जाता है। मगर श्रावक–श्राविकाओ के व्रत एकदेशीय है, उनमे पापो का सर्वथा त्याग नही किन्तु मर्यादित त्याग किया जाता है।

२ वारह व्रतो में से ६-७-८वाँ व्रत तो गुणव्रत कहलाता है।

३ वारह व्रतो में से ९–१०–११–१२ वाँ ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

४ वारह व्रतो के नाम–

(१) प्राणातिपातविरमण व्रत–हिंसा का त्याग करना।
(२) मृषावाद ,, –असत्य का ,,
(३) अदत्तादान ,, –चोरी का ,,
(४) मैथुन ,,–मैथुन सेवन का,, (ब्रह्मचर्य पालना)
(५) परिग्रहपरिमाणव्रत–परिग्रह की मर्यादा करना।
(६) दिक्परिमाणव्रत– दिशाओ मे आने जाने की मर्यादा करना।
(७) उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत–एक वार उपयोग मे आने वाली तथा वारम्वार उपयोग

मूल	अर्थ
जं खंडिथं–	जो खडन हुआ हो
जं विराहियं–	जो विराधना हुई हो
तस्स निच्छा मि दुक्कडं–	उस दुष्कृत का फल मिथ्या ह

मे आने वाली वस्तुओं व
मर्यादा बाधना

(८) अनर्थदण्डविरमणव्रत– जिन वृथा कार्यों से आत्
को दडित होना पडता है
उनका त्याग करना

(९) सामायिकव्रत–आत्मा को समभाव मे रखने का व्रत

(१०) देशावकाशिकव्रत–भूमि और द्रव्यो की मर्या
करने का व्रत

(११) प्रतिपूर्ण पौपधव्रत–एक रात-दिन तक उपवा
करके आत्मा मे रमण करने का व

(१२) अतिथिसंविभागव्रत– जिनके आने की निश्चि
तिथि नही है, ऐसे अपरिग्र
पुरुपो को अपने आहार आ
मे से हिस्सा देने का व्रत ।

सूचनाः– यह 'इच्छामि ठाइउँ' का पाठ बोलने के बा
'तस्स उत्तरी' का पाठ बोलकर निन्यानवे अतिचारो क
'काउस्सग्ग' करना चाहिए ।

पाठ चौथा

दूसरा और तीसरा आवश्यक

चौवीस तिर्थंकरो की स्तुति :-

सूचनाः- पहला आवश्यक पूरा होते ही, खडे होकर, पहले आवश्यक मे वतलाई हुई विधि के अनुसार दूसरे आवश्यक की आज्ञा माँगनी चाहिए। आज्ञा माँगकर 'लोगस्स' का पाठ वोलना चाहिए। लोगस्स के पाठ से चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति होती है।

तीसरा आवश्यकवंदना :-

सूचना- पहले वतलाये अनुसार इस आवश्यक के लिएआज्ञा माँगनी चाहिए।इस आवश्यक मे गुरुदेव को वदना की जाती है। मन, वचन या काय से गुरुदेव के प्रति किसी प्रकार की अविनय आशातना, अभक्ति, या अपराध हुवा हो तो उसके लिए गुरु-देव से क्षमा मागनी चाहिए।अगर मत-गुरुदेव मौजुद हो तो उनके सामने और यदि मौजूद न हो तो मन से गुरुदेव को सामने रखकर नीचे लिखी विधि के अनुसार यह आवश्यक करना चाहिए।

विधि- आज्ञा माँगने के वाद उकडू आसन (गोदुहासन) से बैठकर 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ दो वार वोलना चाहिए। इतना करने से तीसरा आवश्यक पूरा हो जाता है।

'इच्छामि खमासमणो' का पाठ

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहि-आए, अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि अहो कायं काय-संफासं, खमणिज्जो भे ! किलामो, अप्पकिलंताण, बहुसु-भेणं भे ! दिवसो वइक्कंतो ? जत्ता भे जवणिज्जं च भे !

खामेमि खमासमणो ! देवसिअं वइक्कमं, आवस्सियाए पडिक्कमामि, खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्ती-सन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए, कोहाए, माणाए, मायाए, लोहाए, सव्व-कालिआए, सव्वमिच्छोवयाराए, सव्वधम्माइक्कमणाए,आ-सायणाए,जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स खमासमणो? पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

मूल	अर्थ
इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं-	हे क्षमावंत श्रमण ! मैं वन्दना करना चाहता हूँ
जावणिज्जाए-	(शरीर की) शक्ति के अनुसार
निसीहिआए-	(शरीर को) पाप क्रिया से हटाकर
अणुजाणह-	अनुज्ञा-आज्ञा-दीजिए
मे मिउग्गहं-	मुझे परिमित अवग्रह की (साढ़े तीन हाथ प्रमाण क्षेत्र की)
निसीहि-	पाप क्रिया रोककर



मूल	अर्थ
अहोकाय–	(आपके) अधोकाय-चरणो का
कायसंफ.स–	अपने काय मस्तक-से स्पर्श (करता हूँ)
खमणिज्जो–	क्षमा के योग्य हैं
भे–	आपको (मेरे स्पर्श से)
किलामो–	बाधा-पीडा हुई हो, वह
अप्पकिलंताणं–	अल्प ग्लान-अवस्था मे रह कर
बहुसुभेण भे ! दिवसो–	आपका दिवस बहुत समाधि से
वइक्कंतो ?–	व्यतीत हुआ है ?
जत्ता भे ?–	आपकी सयम यात्रा (निर्बाध है?)
जवणिज्जं च भे ?–	आपका शरीर (मन व इद्रियो की) पीडा से रहित है ?
खामेमि खमासमणो ! –	हे क्षमावान् श्रमण! खमाता हूँ
देवसिअ वइक्कमं–	दिवस सबधी अपराधो को
आवस्सिआए–	आवश्यक मे हुए विपरीत अनुष्ठान से
पडिक्कमामि–	निवृत्त होता हूँ
खमासमणाणं–	क्षमा श्रमण की
देवसिआए–	दिवस सम्बधी
आसायणाए तित्तीसन्नयराए–	तेतीस मे से किसी भी आसातना से
जं किंचि मिच्छाए–	जो कोई मिथ्याभाव से की हो

मूल	अर्थ
मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए	दुष्ट मन, वचन. काय से की हुई
कोहाए माणाए–	क्रोध से, मान से
मायाए लोहाए--	माया से लोभ से की हुई
सव्वकालियाए--	सर्व काल सम्बन्धी
सव्वमिच्छोवयाराए--	सब प्रकार के मिथ्या उपचार से भरी हुई
सव्वधम्माइक्कमणाए–	सर्व धर्म का उल्लघन करने वाली
आसायणाए–	आसातना से
जो मे देवसिओ--	जो मैंने दिवस सम्बन्धी
अइयारो कओ--	अतिचार किया हो
तस्स खमासमणो–	हे क्षमा--श्रमण ! उसका
पडिक्कमामि--	प्रतिक्रमण करता हूँ (निवृत होता हूँ)
निंदामि गरिहामि--	निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ
अप्पाणं वोसिरामि--	आत्मा को(पापप्रवृत्ति)से हटाता हूँ



पाठ पाँचवाँ
अतिचारों की समझ

अतिचारो का चिन्तन करने के विषय में विचार किया जा चुका है। तीसरे पाठ मे उन्ही के सम्बध मे भावना करने के बाद ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप सम्बन्धी अतिचारो का कायोत्सर्ग मे चिंतन करना चाहिए। अतिचार आगे कहेगे।

अतिचार का अर्थ है दोष, भूल अथवा जो विरोध हुआ हो वह। सभी व्रतो के अतिचार होते है। किसी भी व्रत मे भूल होने की चार सीढियाँ है –

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार।

मूल	अर्थ
(१) अतिक्रम–	(व्रत को भग) करने का विचार मात्र करना
(२) व्यतिक्रम–	(व्रत को भंग) करने के लिए सामग्री इकट्ठी करना
(३) अतिचार–	व्रत को आंशिक रूप से भग करना
(४) अनाचार–	व्रत को पूरी तरह भग कर देना

व्रत–भग की ये चारो भूमिकाएँ अतिचार कहलाती है। इन चारो मे क्रम से अधिक–अधिक पाप होता है। अतिक्रम की अपेक्षा व्यतिक्रम मे, व्यतिक्रम की अपेक्षा अतिचार

मे, अतिचार की अपेक्षा अनाचार मे अधिक पाप है, अनाचा
मे तो व्रत पूरी तरह भग हो जाता है ।

ज्ञान के चौदह अतिचार है ।
दर्शन के पाँच अतिचार है ।
तप के पाँच अतिचार है ।
चारित्र के पचहत्तर अतिचार है ।

इस तरह सब मिलकर ९९ अतिचार होते है । इन ९९ अतिचारो का कायोत्सर्ग मे चिन्तन किया जाता है ।

पाठ छठा

चौथा आवश्यक

यहाँ से 'प्रतिक्रमण' नामक चौथा आवश्यक आरम्भ होता है । पहले के तीन आवश्यको की तरह इस चौथे आवश्यक की भी आज्ञा लेनी चाहिए । प्रत्येक आवश्यक के समय आज्ञा माँगने का विधान है । इसका कारण यह है कि आज्ञा लेने से दृढता बढती है । अकसर बडे आदमी के सामने हम भूल नही होने देते । कदाचित् भूल हो जाती है तो उसके लि माफी माँगते है । इसी प्रकार गुरु महाराज की आज्ञा लेक आवश्यक करने से सावधानी और रुचि के साथ आवश्यक करने की प्रेरणा मिलती है ।

ज्ञान के भेद :–

ज्ञान का अर्थ "आत्मा तथा जड की पहचान" किया ज

चुका है। आत्मा को जानना ही सच्चा ज्ञान है। जब तक आत्मा का स्वरूप नही जाना जाता तब तक ज्ञान, अज्ञान है।

समस्त पदार्थों का परिपूर्ण ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। केवलज्ञान के सिवाय चार ज्ञान और है। सब मिलाकर पाँच ज्ञान इस प्रकार हैं--

(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, किसी भी सम्यग्दृष्टि जीव को हो सकते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव वह है जिसे आत्मा के स्वरूप का भान हो गया हो। जो जीव सम्यग्दृष्टि नही है उन्हे भी ये तीन ज्ञान प्राप्त होते हैं, मगर सम्यग्दर्शन न होने के कारण वे अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान कहलाते है। उनके ज्ञान मति--अज्ञान, श्रुत--अज्ञान और विभगज्ञान कहे जाते हैं। ऐसे अज्ञानियो मे चाहे जितना ज्ञान क्यो न हो, मगर आत्म--कल्याण मे वह उपयोगी नही होता।

मन पर्यायज्ञान प्रमाद से रहित सकल चारित्र वाले सम्यग्दृष्टि पुरुषों को ही होता है। केवलज्ञान उन महापुरुषो को प्राप्त होता है जो मोह को सर्वथा नष्ट करके पूर्ण वीतराग बन जाते है। केवलज्ञान प्राप्त होने पर वह महापुरुष केवली या अरिहन्त कहलाते है। मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान मिथ्यादृष्टि वाले जीवो को प्राप्त नही होते। अतएव जैसे मतिज्ञान का विपरीत मति--अज्ञान बतलाया गया है, वैसा इन दोनो ज्ञानो का विपरीत नही हो सकता।

ज्ञान और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) मे और कोई भेद नही है सिवाय इसके कि ज्ञान सम्यग्दृष्टि को होता है और अज्ञान मिथ्यादृष्टि को। यह एक महत्त्वपूर्ण भेद है। जो अपने ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बनाना चाहता है उसे आत्मा को पहचानना चाहिए--सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए।

इस प्रकार पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान हैं। यह आठ भेद ज्ञानोपयोगी कहलाते हैं।--

दर्शन के भेद--

पहले कहा जा चुका है कि दर्शन का अर्थ देखना भी है और सामान्य रूप से जानना भी है। यहाँ दर्शन का अर्थ सामान्य ज्ञान समझना चाहिए। दर्शन के चार भेद हैं --

मूल	अर्थ
(१) चक्षुर्दर्शन--	आँख से जो सामान्य ज्ञान हो।
(२) अचक्षुर्दर्शन--	आँख के सिवाय किसी भी दूसरे इन्द्रिय से अथवा मन से होने वाला सामान्य ज्ञान।
(३) अवधिदर्शन--	इन्द्रियो की सहायता के विना स्वयं आत्मा से ही रूपी पदार्थों के विशेष ज्ञान से पहले होनेवाला सामान्यज्ञान
(४) केवलदर्शन--	केवल लब्धि से होने वाला समस्त पदार्थों का सामान्य बोध।

उपयोग क्या है :--

ज्ञान, अज्ञान और दर्शन मिलकर कुल बारह भेद हुए। इन सब को " उपयोग " कहते हैं।

उप अर्थात नजदीक, योग अर्थात् जोडना। जो आत्मा के निकट जुडे हुए है, उन्हे उपयोग कहते है। ऐसा कोई आत्मा नही है जिसमे पूर्वोक्त बारह उपयोगो मे से थोडे-बहुत उपयोग न हो। उपयोग का सामान्य अर्थ है जानना। और ऐसा कोई आत्मा नही है जो जानता न हो। सच्चा, झूठा, थोडा या बहुत ज्ञान प्रत्येक आत्मा मे होता ही है। ज्ञान न हो तो आत्मा ही न रहे-जड हो जाय। इसी कारण शास्त्रकारो ने × उपयोग को जीव का लक्षण बतलाया है।

ऊपर बतलाये हुए बारह उपयोगों मे से केवलज्ञान और केवल दर्शन—ये दो उपयोग तो पूरी तरह विकास को प्राप्त आत्मा मे ही होते हैं। शेष १० उपयोग उन आत्माओ में होते है जिनका पूर्ण विकास नही हो पाया है। मगर किसी आत्मा मे कम और किसी मे ज्यादा होते हैं।

योग और उसके भेद —

ज्ञान और दर्शन आत्मा से अत्यन्त निकट होने के कारण उपयोग कहलाते है। मगर मन, वचन और काय, ये तीनो उपयोग के भी साधन होने के कारण 'योग' कहलाते है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के अभाव में केवल ज्ञान नही हो सकता। और मन, वचन और काय न हो तो मतिज्ञान-श्रुतज्ञ न नही होते। इसलिए मन, वचन और काय को योग कहते है। यद्यपि योग तीन हैं मगर विशेप भेदो को देखते हुए उनके पन्द्रह भेद इस प्रकार होते हैं—

× उवओगलक्खणे जीवे— (भगवती सूत्र)

(१) मनोयोग के चार भेद.–

(१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग (३) मिश्र-मनोयोग (४) व्यवहार मनोयोग ।

(२) वचनयोग के चार भेद;–

(१) सत्य वचन योग (२) असत्य वचन योग (३) मिश्र वचन योग (४) व्यवहार वचन योग ।

(३) काययोग के सात भेदः–

(१) औदारिक शरीर काय योग (२) औदारिक मिश्रशरीर काय योग (३) वैक्रिय शरीर काय योग (४) वैक्रिय मिश्र शरीर काय योग (५) आहारक शरीर काय योग (६) आहारक मिश्र शरीर काय योग (७) कार्मण शरीर काय योग ।

शरीर के पाँच भेद हैं । इनका व्योरेवार वर्णन आगे किया जायगा । इन योगो द्वारा ही कर्मों का बंध होता है और इसी से संसार है । जब आत्मा को योग रहित दशा प्राप्त होती है, तभी आत्मा संसार से छुटकारा पाता है । तभी यह सिद्ध और बुद्ध होता है ।

योग और उपयोग के विषय में इतना जान लेने के बाद फिर हम ज्ञान की तरफ झुके ।

ज्ञानविकास के आठ नियमः–

आत्मा के ज्ञान-गुण का विकास करने के लिए इन आठ नियमो पर ध्यान रखना चाहिए ।

(१) योग्य समय पर ज्ञान प्राप्त करना।

(२) जिनसे ज्ञान प्राप्त करना है उनकी सेवा करना। ऐसा करने से ज्ञान सिखाने वाले का प्रेम बढता है और उस प्रेम के कारण सिखाने वाला अपना ज्ञान शिष्य (सीखनेवाले) को देता है।

(३) सिखाने वाले–गुरु का बहुमान करना चाहिए। सच्चे दिल से गुरु पर स्नेह रखना चाहिए। गुरु पर प्रेम हो। तभी विद्या मिलती है। इस विषय मे एकलव्य का और राजा श्रेणिक का उदाहरण प्रसिद्ध है।

(४) तप करना चाहिए। अर्थात् इच्छाओ को काबू मे रखना चाहिए। ऐसा करने से ज्ञान सफल होता है।

(५) जिससे ज्ञान प्राप्त किया हो उसका नाम छिपाना नही चाहिए। गुरु का नाम छिपाना एक प्रकार की चोरी है। इससे ज्ञान की हानि होती है।

(६) शास्त्रो मे या गुरु के वचन मे स्वच्छद होकर, दभ के कारण पाठ मे फेरफार नही करना चाहिए।

(७) स्वार्थ के लिए मनमाना अर्थ नही निकालना चाहिए।

(८) ज्ञानी पुरुष की झूठी निन्दा नही करनी चाहिए। ऐसा करने से ज्ञान की प्राप्ति मे बाधा पडती है।

ज्ञान के अतिचार:—

शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऊपर बतलाये आठो नियमो का ध्यान रखना आवश्यक है। इसमे भूल होने पर ज्ञान प्राप्त करने मे बहुत कठिनाई होती है।

शास्त्रज्ञान के तीन भेद है:--

(१) सूत्रज्ञान (२) अर्थज्ञान (३) उभयज्ञान।

(१) ज्ञान प्राप्त करते समय अकसर शब्द के उच्चारण की कठिनाई आती है। शुद्ध उच्चारण करने का भी खयाल नही रक्खा जाता। अशुद्ध उच्चारण करना शास्त्रकारो ने वडे से वडा दोप माना है। अतएव शास्त्र का पाठ सिखाते समय सिखाने वालो को और सीखने वाले को उच्चारण की ओर खूब ध्यान देना चाहिए। सीखने के वाद भी उतावल नही करना चाहिए। ऐसा करने से अशुद्धि होते देर नही लगती। अक्षर भी उलट-पलट हो जाते है और पद के पद छूट जाते है। और फिर अर्थ समझने मे भी भूल हो जाती है।

(२) ज्ञान प्राप्त करते समय उच्चारण की शुद्धता के अतिरिक्त ध्यान की भी आवश्यकता है। पाठ का उच्चारण करते समय अगर पाठ के अर्थ मे मन वचन काय को लगा न दिया तो पाठ करना वेकार हो जाता है। ऐसा न करने से न तो पाठ करने वाले को ही आनन्द आता है और न किया हुआ परिश्रम सार्थक होता है। एक ध्यान मे सामायिक करने पर वेडा पार हो जाता है। ध्यान के अभाव मे किया हुआ तप भी ससार मे घुमाता है। इसलिए ज्ञान प्राप्त करते समय इस तरफ भी पूरा ध्यान रखना चाहिए।

(३) तीसरी वात है अभ्यास के समय की। नियम नही हो तो अभ्यास में प्रमाद होता है। अत ज्ञान प्राप्त करने वाले अभ्यासी या विद्यार्थी के लिए नियम की वहुत आवश्य--कता है। अभ्यास के लिए जो समय नियत है, उस समय को अगर मौज-मजा करने या किसी दूसरे काम में विता दिया

जाय तो ज्ञान प्राप्त नही होता। उदाहरणार्थ सुबह मे अभ्यास करने के लिए बैठने वाला विद्यार्थी, दोपहर मे शायद ही कर सके। इसी कारण ज्ञानी पुरुष समय देखकर काम करने के लिए कहते है। ऐसा न करने से ज्ञान मे दोष लगता है।

सातवाँ पाठ

ज्ञान

'दिवस सम्बन्धी ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के विषय में जो अतिचार लगे हो, उनकी आलोचना करता हूँ।' इस प्रकार कहकर नीचे लिखा पाठ बोलना चाहिए –

मूलपाठ

आगमे तिविहे पन्नत्ते, त जहा :–

सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे, एअस्स सिरिनाणस्स जे अइयारा लग्गा ते आलोएमि।

(१) जं वाइद्धं (२) वच्च मेलियं, (३) हीणक्खरं (४) अच्चक्खर (५) पयहीणं (६) विणयहीण (७) जोगहीणं (८) घोसहीणं (९) सुट्ठुदिन्नं (१०) दुट्ठुपडिच्छियं (११) अकाले कओ सज्झाओ (१२) काले न कओ सज्झाओ (१३) असज्झाइए सज्झाय (१४) सज्झाइए न सज्झायं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

मूल	अर्थ
आगमे तिविहे पन्नत्ते-	आगम तीन प्रकार का कहा गया है
तं जहा-	वह इस प्रकार है
सुत्तागमे-	सूत्र शब्द रूप आगम
अत्थागमे-	अर्थ रूप आगम
तदुभयागमे-	दोनो प्रकार का (सूत्र और अर्थ रूप) आगम
एअस्स सिरिनाणस्स-	इस श्री ज्ञान के विषय में
जे अइयारा लग्गा-	जो अतिचार लगे हो
ते आलोएमि-	उनकी आलोचना करता हूँ
जं वाइद्धं-	(१) अगर सूत्र आगे पीछे बोला हो
वच्चामेलिय-	(२) एक पद को दूसरे पद मे मिला कर पढा हो
हीणक्खरं-	(३) अक्षर कम बोले हो
अच्चक्खरं-	(४) ज्यादा अक्षर बोले हो
पयहीणं-	(५) पद कम बोले हो--कोई पद छोड दिया हो
विणयहीणं-	(६) विनय विना सूत्र बोला हो
जोगहीणं-	(७) मन, वचन, काय की स्थिरता न रखकर सूत्र बोला हो
घोसहीणं-	(८) विना शुद्ध उच्चारण बोला हो
सुट्ठुदिन्नं-	(९) अविनीत को ज्ञान दिया हो

मूल	अर्थ
दुट्ठुपडिच्छियं-	(१०) दुष्ट भाव से ज्ञान लिया हो
अकाले कओ सज्झाओ	(११) असमय में स्वाध्याय किया हो
काले न कओ सज्झाओ	(१२) समय पर स्वाध्याय न किया हो
असज्झाइए सज्झायं	(१३) स्वाध्याय न करने योग्य जगह पर स्वाध्याय किया हो
सज्झाइए न सज्झायं	(१४) स्वाध्याय योग्य जगह पर स्वाध्याय नही किया हो
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं	इन दोषो सम्बन्धी मेरा पाप (दुष्कृत) मिथ्या हो



पाठ आठवाँ

दर्शन-सम्यक्त्व का अर्थ

इस पाठ मे दर्शन शब्द सच्ची श्रद्धा के अर्थ में काम में लाया गया है। दर्शन को सम्यक्त्व एव समकित भी कहते हैं।

रागद्वेषरहित देव (अरिहत), पच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ गुरु और सर्वज्ञ-कथित दयामय धर्म, इन तीनो की श्रद्धा शुद्ध मन से और सच्चे विवेक से प्राप्त होती है, इनके विरुद्ध आचरण करने से समकितदशा चली जाती है।

दर्शन-समकित की व्याख्या शास्त्रकार ने इस प्रकार की है :-

अरिहतो मह देवो, जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तो धम्मो, इअ सम्मत्त मए गहिय ॥

राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ और कर्म रूप आत्मा के शत्रुओ को जीतने वाले अरिहत भगवान् ही मेरे देव हैं। उनके सिवाय कोई मेरा देव नही है ।

सच्चे पच महाव्रतधारी साधु ही मेरे गुरु है ।

केवलज्ञानियो द्वारा कहा हुआ वतलाया-हुआ अहिसा, सयम और तप रूप धर्म ही सच्चा धर्म है ।

जीवन पर्यन्त इस प्रकार की सच्ची श्रद्धा रखना मैने निश्चित किया है । मैने अपने हृदय मे यही भावना स्थापी है।

जान और माल का भोग देकर भी इस सच्चे धर्म से चूकना नही चाहिए । किसी भी प्रकार की सासारिक स्वार्थमय इच्छा के विना ऐसे देव, गुरु और धर्म को मानना चाहिए तभी सच्चे देव, गुरु और धर्म की मान्यता करना कहल सकता है ।

दर्शन के अतिचार :-

इस प्रकार की श्रद्धा करते-करते भी अभ्यासी कभी-कभी भूल कर वैठता है । उसे देव, गुरु या धर्म के विषय मे कभी शका हो जाती है । इस प्रकार शका करने वाला आत्म अपने हित का नाश करता है । कहा भी है- " सशयात्म विनश्यति । " शका सम्मत्त नासइ । शका विनाश की पहली सीढी है। इसलिए उसका त्याग करना ही उचित है । श्रद्धा को मजबूत वनाने के लिए समकित के पाँच अतिचारो को जान कर उन्हे छोडना चाहिए -

१ शका:–

आत्मा आँखो से दिखाई नही देता । अतएव आत्मा है या नही ? पुण्य-पाप जैसे कोई तत्त्व है भी या नही ? कौन जाने परलोक है या नही ? इस प्रकार की शकाओ के कारण सत्य की प्राप्ति मे कठिनाई आती है ।

२ कांक्षा :–

मिथ्या मत की इच्छा करना । गुरु या धर्म की सेवा करने मे स्वार्थ की भावना रखना । इस लोक या परलोक के सुखो की इच्छा से देव-गुरु की स्तुति-उपासना करना भी काक्षा दोष है ।

३ विचिकित्सा –

धर्म-क्रिया के फल मे शका करने से यह दोष लगता है। 'इस क्रिया का फल मिलेगा या नही ?' इस प्रकार की शका करने से भी सच्ची श्रद्धा नही टिकती ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

अर्थात्– कर्त्तव्य किये जा, फल की परवाह मत कर ।

यह सिद्धान्त प्रत्येक मनुष्य को अमल मे लाना चाहिए ।

४ परपाखडप्रशंसा:–

इस अतिचार का सही अर्थ समझ लेने की आवश्यकता है । बहुत-से लोग इस अतिचार का अर्थ–' दूसरो की प्रशसा करना' ऐसा करते हैं । पाखडी का अर्थ है–दगाबाज, कपटी । ऐसे आदमी की प्रशसा कैसे की जा सकती है ? ऐसा

अर्थ करने मे 'पर' शब्द रखने की क्या आवश्यकता है ?

इसलिए ऐसा अर्थ करना ठीक नही। जैन आगमो आत्मा के लिए 'स्व' शब्द और पुद्गल के लिए 'पर' शब्द का व्यवहार किया जाता है। पाखड शब्द व्रत के अर्थ मे है। जो लोग सुख पाने के लिए व्रत, नियम या प्रत्याख्यान वगैरह करते है, ऐसे (पुद्गलानदी वेपधारी) लोगो की प्रशंसा नही करनी चाहिए। ऐसे लोगो की प्रशसा करने से उनकी पुष्टि होती है, इस कारण समकित में दोप लगता है।

(५) परपाखंडसंस्तव (परिचय)

कुदर्शनी के साथ सहवास तथा अधिक घनिष्ठता नही रखनी चाहिए। ऐसे लोगो का बखान करने से तथा अधिक परिचय करने मे श्रद्धा मे बाधा पडती है। इसी कारण यह अतिचार है।

ऊपर बतलाये पांच दोपो का त्याग कर देना चाहिए और जो लोग धर्म-मार्ग से, भूल मे पडे है, उन्हे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। साधर्मी के प्रति सगे भाई के समान प्रेमभाव होना चाहिए। सत्य का आचरण और सत्य-भाषण करके धर्म की प्रभावना करनी चाहिए। ऐसा करने से धर्म का प्रचार होता है।



पाठ नौवां



दंसण-सम्मत्तं

(दर्शन के अतिचारो की आलोचना का पाठ)

मूलपाठ-

तण सम्मत्तं-

परमत्थसथवो वा मुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि ।
वावन्नकुदमणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ।।
अरिहतो मह देवो जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्त तत्त इअ सम्मत्त मए गहिय ।।

एअस्स सम्मत्तस्स समणोवासएणं* इमे पच अइयारा याला जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा--
(१) सका (२) कंखा (३) वितिगिच्छा (४) परपासंड-संसा (५) परपासंडसंथवो । तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

मूल	अर्थ
सणसम्मत्तं-	देव, गुरु और अहिंसा, सयम, तप रूप धर्म की सच्ची श्रद्धा ।

---

* स्त्रियो को 'समणोवासियाए' का पाठ वोलना चाहिए ।

मूल	अर्थ
परमत्थसंथवो वा–	परमार्थ-जीवादि नौ तत्त्वो क पहचान करना और
सुदिट्ठपरमत्थसेवणा–	जिन्होने परमार्थ-सिद्धान्त को भल भाँति जाना है उनकी सेवा करन
वा वि–	और
वावन्न–	सम्यक्त्व या चरित्र से भ्रष्ट व्यापः
कुदंसण–	कुदर्शन मिथ्यामत को मानने वाले क
वज्जणा य–	सगति न करना
सम्मत्तसद्दहणा--	(इस प्रकार) समकित की श्रद्धा है
अरिहंतो मह देवो--	अरिहत मेरे देव है
जावज्जीवाए--	जीवन पर्यन्त
सुसाहुणो गुरुणो--	सच्चे साधु (मेरे) गुरु है
जिणपण्णत्तो धम्मो--	सर्वज्ञ का कहा हुवा धर्म (मेरा धर्म है)
इअ सम्मत्त--	इस प्रकार का सम्यक्त्व
मए गहिअं--	मैंने ग्रहण किया है
एअस्स सम्मत्तस्स–	इस सम्यक्त्व के
समणोवासएणं–	श्रावक को ˟
इमे पंच अइयारा–	यह पाच अतिचार
पेयाला–	प्रधान (बड़े)

˟ स्त्रियो को 'श्राविका को' ऐसा बोलना चाहिए ।

जाणियव्वा–	जानने योग्य है[1]
न समायरियव्वा–	आचरण करने योग्य नही है[2]
तं जहा–	वे (अतिचार) इस प्रकार है
(१) संका–	वीतराग के कहे मार्ग मे शका करना[3],
(२) कंखा–	पर मत की चाहना करना, धर्मक्रिया के फलस्वरूप इस लोक परलोक के सुख की आशा करना।
(३) वितिगिच्छा–	धर्म-क्रिया के फल मे सदेह करना।
(४) परपासंडपसंसा–	धर्म के नाम से पाप का उपदेश करने वाले ढोगियो की प्रशंसा करना।
(५) परपासंडसंथवो–	वेपधारियो का परिचय करना।

इस प्रकार समकित रूप रत्न पर अतिचारों द्वारा अश्रद्धा रूप जो रज, मैल दोप लगा हो तो अरिहतो और अनत सिद्ध भगवतो की साक्षी से मिच्छा मि दुक्कड ।

१– क्यो कि जाने विना त्याग नही किया जा सकता। इसीलिए अतिचारो को सब जगह जानने योग्य कहा है। अज्ञानी हित-अहित को समझ नही सकता। ऐसी स्थिति में वह अहितकारी वस्तु को त्याग कर हितकारी वस्तु का आचरण कैसे कर सकता है? अतएव जानना जरूरी है।

२– अतिचारो को जानकर छोडना चाहिए, आचरण में नही लाना चाहिए।

३– कोई बात समझ मे न आई हो तो गुरुजी के सामने शका- समाधान करने में यह दोप नही लगता।

पाठ दसवां

चारित्र

चारित्र क्या है ?:-

चारित्र का अर्थ है- अपने स्वरूप में रमण करना। जब राग और द्वेष का पूरी तरह नाश हो जाता है और मन, वचन तथा काय मे स्थिरता आ जाती है; तभी आत्मा के स्वरूप मे ठीक तरह रमण किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे पहुँचने के लिऐ अहिंसा आदि व्रतों का पालन और हिंसा आदि पापो का त्याग भी सहायक है। अतः इसे भी चारित्र कहते है। क्योकि इसकी सहायता से राग द्वेष का नाश किया जा सकता है। इसके नाश से दोषो का त्याग और व्रतो का पालन होता है।

चारित्र की भूमिकाएँ-

चारित्र के पांच भेद हैं:-

१ सामायिक २ छेदोपस्थापनीय ३ परिहार-विशुद्धि ४ सूक्ष्मसम्पराय ५ यथाख्यातचारित्र।

१) सब प्रकार के सावद्य योग (पापकारी प्रवृत्ति) का त्याग करके आत्मोत्थानकारी प्रवृत्ति करना सामायिक है।

छेदोपस्थापनीय आदि चारो चारित्र सामायिक रुप तो है ही फिर भी आचार की कुछ भिन्नता उनमें पाई जाती है।

इस कारण इन चारो को अलग-अलग कहा गया है। थोडे समय के लिए या जीवन भर के लिए सावद्य योग का त्याग करना सामायिक चारित्र है।

(२)साधु होने के लिए पहले छोटी और बाद में बडी दीक्षा दी जाती है। अथवा साधुपन में कोई बडी भूल हो जाय तो फिर से दीक्षा दी जाती है। उसे 'छेदोपस्थापनीय' चारित्र कहते हैं।

(३) जिसमें खास तरह का ऊँचा तप और आचार पालन किया जाता है वह 'परिहारविशुद्धि' चारित्र कहलाता है। आजकल इस चारित्र का पालन नही किया जा सकता।

(४)क्रोध, मान और माया इन तीनों कषायो का जब सर्वथा नाश हो जाता है और लोभ का सूक्ष्म अश बाकी रहता है, उस दशा मे होने वाला चारित्र 'सूक्ष्मसम्पराय' कहलाता है। ऐसी स्थिति दसवे गुणस्थान मे प्राप्त होती है।

(५) कषाय का लेशमात्र भी उदय न रहने पर जो चारित्र होता है वह 'यथाख्यात' है। उसे वीतराग चारित्र भी कहते हैं।

पाठ ग्यारहवां

पांच आचार

यहा तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सबंध मे विचार कया गया है। यह ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप और

वीर्य-ये पांच आचार कहलाते है। जैन शास्त्रो में इन पांच आचारो का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इन पांच में से तीन आचारो के विषय में पहले कहा जा चुका है।

ज्ञानाचार :–

(१) जिस आचार से कर्म का नाश होता है और आत्म का ज्ञान मिलता है, वह 'ज्ञानाचार' कहलाता है। ज्ञानाचा के आठ नियम बतलाये जा चुके है। उन आठ नियमों को ध्यान में रखकर, विनय के साथ, गुरु से जो शास्त्र का अभ्यास करता है, उसका ज्ञान अधिक-अधिक बढ़ता जाता है और ज्ञान को रोकने वाले दोष नष्ट होते जाते हैं। ज्ञा का अभ्यास करने वालो को चाहिए कि वे उन नियमो को भ न भूले।

दर्शनाचार :–

(२) जिससे मिथ्यात्व मोह का नाश होता है औ सम्यक्त्व अथवा यथार्थ श्रद्धा प्रकट होती है, उसे 'दर्शनाचार कहते हैं। इसके आठ नियमो के विषय में भी पहले कहा ज चुका है।

(३) चारित्राचार

(३) कषाय आदि की उपशान्ति को तथा व्रत आदि रू चारित्र को चारित्राचार कहते हैं। चारित्राचार में पांच समि तियो और तीनो गुप्तियो का समावेश होता है। इन आठो क प्रवचनमाता, भी कहते हैं। साधुओ को तो आठ प्रवचनमात का पालन करना अनिवार्य है ही, पर श्रावको को भी उनक ज्ञान और यथाशक्ति पालन करना चाहिए।

पाँच समिति :-

(१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा समिति (४) आदाननिक्षेपण समिति (५) परिष्ठापना समिति ।

समिति की व्याख्या :-

(१) किसी भी जीव-जन्तु को दुःख न हो, इस प्रकार सावधानी के साथ चलना "ईर्या समिति" है ।

(२) सत्य, हितकारी, मधुर, परिमित और सन्देह रहित बोलना "भाषा समिति" है ।

(३) जीवन के लिए उपयोगी आहार आदि वस्तुएँ निर्दोष प्राप्त करना "एषणा समिति" है ।

(४) प्रत्येक वस्तु को बराबर देख भाल कर, पुंजकर लेना और रखना "आदान निक्षेपण समिति" है ।

(५) जीव-जन्तुओ से रहित और किसी को कष्ट न पहुचे, ऐसी जगह मल-मूत्र आदि निरुपयोगी चीजो का त्याग करना परिष्ठापनिका समिति है ।

गुप्ति के भेद और लक्षण-

गुप्ति के तीन भेद हैं - (१) मनगुप्ति (२) वचनगुप्ति (३) कायगुप्ति ।

विचारपूर्वक मन, वचन और काय खराब मार्ग से रोकना और अच्छे मार्ग मे ले जाना, यही गुप्ति की सार्थकता है ।

(१) खराब विचार का त्याग करना और अच्छा विचार करना मनोगुप्ति कहलाती है ।

(२) मौन रखना या बोलते समय वचनो का ध्यान रखना अथवा अवसर जानकर मौन रखना वचनगुप्ति है।

(३) किसी भी चीज को उठाने धरने में अथवा उठने-बैठने चलने फिरने में शरीर को विवेक के साथ प्रवृत्त करना कायगुप्ति है।

समिति में विवेक के साथ क्रिया करने की मुख्यता है और गुप्ति में क्रिया को रोकने की मुख्यता है। मुमुक्षुओं के लिए गुप्ति उत्सर्ग मार्ग है और समिति अपवाद मार्ग है।

जैसे माता अपने बालक की रक्षा करती है, उसी प्रकार पाच समितिया और तीन गुप्तियाँ चारित्र की रक्षा करती हैं इसलिए शास्त्र मे इन आठो को 'प्रवचनमाता' कहा है।

व्रतो का भी चारित्राचार मे ही समावेश होता है। प्रतिक्रमण भी चारित्राचार का ही अग है। इस सम्बन्ध में लम्बा विवेचन करने से पहले दो आचारो का तपाचार और वीर्याचार का थोडा विचार कर लेना चाहिए।

(४) तपाचार

व्याख्या और भेद :-

ज्ञान के द्वारा आत्मा के स्वरूप को जानना, दर्शन के द्वारा आत्मश्रद्धा प्राप्त करना और आत्मा के स्वरूप में स्थिर होने के लिए प्रयत्न के साथ चारित्र का पालन करना चाहिए। मगर इतना करने पर भी प्राय• खराब इच्छाएं ज्यो की त्यो बनी रहती हैं। उनका जोर कम नही होता। इन वासनाओं को कमजोर करने के लिए और आत्मिक बल बढाने के लिए शरीर इन्द्रिय और मन को पक्का बनाना चाहिए। यही तप कहलाता है।

तप के दो भेद हैं –(१) वाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य तप मे शरीर की क्रिया मुख्य है, अतएव वाह्य तप द्वारा इन्द्रियो को वश में किया जाता है। आभ्यन्तर तप में मानसिक क्रिया की मुख्यता है। इस तप से विशिष्ट आत्मशुद्धि होती है। वाह्य तप, आभ्यन्तर तप मे उपयोगी है। इस कारण उसका महत्त्व है। इन दोनो प्रकार के तपो मे सभी छोटेमोटे धार्मिक नियमो का समावेश हो जाता है।

बाह्य तप के छः भेद :–

(१) मर्यादित समय के लिए अथवा जीवन के अन्त तक सव प्रकार के आहार को छोड देना 'अनशन' तप है।

(२) भूख से कम आहार करना 'ऊनोदरी' तप है।

(३) भिन्न-भिन्न प्रकार की लालचो को कम करना 'वृत्तिसंक्षेप' तप है।

(४) घी, दूध आदि तथा अन्य स्वादिष्ट वस्तुओ का त्याग करना 'रसपरित्याग' तप है।

(५) सर्दी से, गर्मी से या जुदा-जुदा आसनो द्वारा शरीर को कृश करना, केशलोच करना आदि 'कायक्लेश' है।

(६) इन्द्रियो तथा मन को वश में रखना, सावद्य योग त्याग कर एकान्त स्थान मे निवास करना 'विविक्तशय्यासन' (प्रतिसलीनता) तप है।

आभ्यंतर तप के छः भेद :–

(१) ग्रहण किये हुए व्रतो मे दोष लगने पर शुद्धि करना 'प्रायश्चित्त' है।

पाठ बारहवाँ

साधना की तीसरी सीढी

[चारित्र का निर्माण और उसके नियम]

चारित्र के नियम में भिन्नता :-

जीवन के लक्ष्य-मोक्ष तक पहुचने के लिए ज्ञान और दर्शन के वाद तीसरी सीढी चारित्र है। पूर्ण चारित्र अर्थात् राग द्वेप आदि भावो से निवृत्ति और आत्मा मे स्थिरता।

चारित्र के इस मूल स्वरूप को प्राप्त करने के लिए अहिंसा सत्य आदि जिन नियमो को स्वीकार किया जाता है, वे सब नियम भी चारित्र कहलाते है, देश काल वगैरह की स्थिति और विचारो में फेर पडने पर दैनिक जीवन के क्रम मे भी फेर पड जाता है। यही कारण है कि चारित्र का मूल स्वरूप एक होने पर भी उसके सहायक नियमो की सख्या मे और स्वरूप मे फेर पडता है। इसी कारण साधु और श्रावक के व्रत और नियम भी शास्त्र मे अलग-अलग वतलाये गये है।

व्रतो की व्याख्या और भेद :-

जो नियम श्रद्धा और समझ के साथ स्वीकार किया है, वह व्रत कहलाता है। उसे हम अपनी वोलचाल की भाषा में प्रतिज्ञा, टेक, आखडी आदि शब्दो से पहचानते है।

हरएक व्रत लेने वाला समान नही होता। अतएव योग्यत के अनुसार शास्त्रकारो ने व्रतधारियो के दो मुख्य विभाग किये हैं (१) अगारी और (२) अनगार।

अगार का अर्थ है–घर। जो घर के साथ सबध रखत है वह अगारी कहलाता है। अगारी अर्थात गृहस्थ स्त्री–पुरुप (श्रावक और श्राविका)। घर के साथ जिसका संबंध नही वह त्यागी-मुनि अनगार कहलाता है। साधु और साध्वी दोनो वर्गों के लिए 'अनगार' शब्द का व्यवहार होता है।

यद्यपि अगारी और अनगार शब्दो का सीधासादा अर्थ क्रम से 'घर मे रहने वाला' और 'घर मे न रहने वाला' होता है, फिर भी यहाँ यह अर्थ लेना है कि जो नियमो मे छूट रखता हो वह अगारी है और जो नियमो मे छूट न रखे वह अनगार। इसका आशय यह निकला कि घर में रहते हुए भी अगर कोई पुरुप अनासक्ति रख सके तो वह भी अनगार-तुल्य ही है। इसके विपरीत कोई पुरुप घर में न रहते हुए भी जगल में रहते हुए भी आसक्ति रखता है तो वह अगारी के समान है। अगारी और अनगार की यह एक सच्ची परीक्षा है।

व्रत के भेद :–

व्रतधारियो की योग्यता-शक्ति के अनुसार ऊपर उनके दो भेद बतलाये गये है। दो प्रकार के व्रतधारियो के कारण व्रतो के भी दो भेद है।

(१) अणुव्रत (देशव्रत)—पापो से पूरी तरह निवृत्त होने की इच्छा होने पर भी जो गृहस्थ सयोग और शक्ति न

होने के कारण हिसा, असत्य वगैरह पापो से पूरी तरह निवृत्त नही हो सकता, अर्थात् जो गृहस्थ जीवन की मर्यादा में रह-अपनी शक्ति के अनुसार अहिंसा, सत्य आदि व्रतो को मर्यादित रूप मे स्वीकार करता है, उसके व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। इन अणुव्रतो को धारण करने वाला " अणुव्रतधारी " या गृहस्थ श्रावक अथवा अगारी कहलाता है।

(२) महाव्रत (सर्वविरति)—हिसा आदि पापों को, मन, वचन, काय से न करना, न कराना और न उनका अनुमोदन करना, इस प्रकार की प्रतिज्ञा से पूरी तरह दोषो का त्याग करने और अहिसा आदि व्रतो का पालन करने के लिए घर-घर को त्याग देना ही आवश्यक होता है। इसलिए ऐसे महाव्रतधारी अनगार कहलाते हैं। उनकी राग-द्वेष की गाठ ढीली पड जाती है या छूट जाती है। इस कारण उन्हें निर्ग्रन्थ भी कहते हैं। ऐसे अनगार पुरुष साधु कहलाते हैं और अनगार स्त्रिया साध्विया कहलाती हैं।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि दोषो की पूरी तरह निवृत्ति को महाव्रत कहते हैं और थोडे अश मे निवृत्ति को अणुव्रत या देशविरति कहते है।

महाव्रत पांच हैं :-

मूल	अर्थ
(१)सव्वाओ पाणाइ :- वायाओ विरमण व्रत	मन वचन और काय से सब प्रकार की हिंसा से पूरी तरह छूटना अहिंसा महाव्रत है।
(२)सव्वाओ मुसावायाओ विरमण व्रत :-	मृषावाद से सर्वथा छूटना, सत्य महाव्रत है।

मूल	अर्थ
(१) सव्वाओ अदिन्नादाणाओ विरमण व्रत :-	चोरी से सर्वथा छूटना, अचौर्य महाव्रत है।
(२) सव्वाओ मेहुणाओ विरमण व्रत :-	विषयभोग से सर्वथा निवृत्त होना, ब्रह्मचर्य महाव्रत है।
(३) सव्वाओ परिग्गहाओ विरमण व्रत :-	परिग्रहसेसर्वथा छूटना परिग्रह त्याग अपरिग्रह-महाव्रत है।

अणुव्रत बारह है :-

बारह अणुव्रतो में पाच मूलव्रत है। इन मूल व्रतो के रक्षण, उपयोग और शुद्धि के लिए गृहस्थ जिन दूसरे व्रतो को स्वीकार करता है, वे उत्तर व्रत कहलाते हैं। उत्तर व्रत सात है। उनमे से पहले के तीन गुणव्रत कहलाते है और बाकी के चार शिक्षाव्रत कहलाते है।

मूल		अर्थ
(१) स्थूल हिंसा	विरमणव्रत	–हिंसा का मर्यादित त्याग करना।
(२) ,, मृषावाद	,,	–असत्य का ,, ,,
(३) ,, अदत्तादान	,,	–चोरी का ,, ,,
(४) ,, मैथुन	,,	–पर स्त्री का त्याग और स्व-स्त्री की मर्यादा करना।
(५) ,, परिग्रह	,,	–परिग्रह की मर्यादा कर लेना।

(६) दिशापरिमाणव्रत (७) उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रत (८) अनर्थदण्डविरमणव्रत (९) सामायिक-व्रत (१०) देशावकाशिकव्रत (११) प्रतिपूर्णपौषधव्रत (१२) अतिथिसंविभागव्रत ।

व्रती बनने की योग्यता:-

अहिंसा सत्य आदि व्रतो को लेने की प्रतिज्ञा कर लेने मात्र से ही कोई सच्चा व्रती नही बन जाता । सच्चा व्रती बनने के लिए सब से पहली और बहुत आवश्यक शर्त शल्य-रहित होना है । संक्षेप मे शल्य के तीन भेद है- (१) माया अर्थात् दंभ, धोखा या ठगने की वृत्ति (२) निदान अर्थात् भोगो की इच्छा और (३) मिथ्यात्व अर्थात् सत्य पर विश्वास न रखना या खोटे की पकड रखना ।

साधारणतया प्रत्येक मनुष्य मे, कम-बढ रूप मे, यह तीनो दोष मौजूद रहते है । यह दोष जब तक मौजूद रहते है तब तक हानि ही उठानी पड़ती है । इनके कारण आत्मा मजबूत नही हो पाती । इसी कारण शल्य वाला मनुष्य अपने व्रतो का दृढता के साथ पालन नही कर सकता । उसके व्रत दूषित रहते है । अतएव सच्चा व्रती बनने के लिए ऊपर बतलाये हुए तीनो दोषो का त्याग कर देना ही उचित है ।

इसके सिवाय एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए । वह है कि जैनधर्म भावना को बहुत महत्त्व देता है ।

भावना का आशय है मन की टेव। जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सफलता मिलती है। इस कारण प्रत्येक व्रत के साथ भावना को पवित्र रखने की भी बड़ी आवश्यकता है। इस बात को ध्यान मे रक्खे बिना, अणुव्रत या महाव्रत का पूरा मूल्य नही रहता।

व्रतो के दो बाजू:-

व्रतो के नाम ऊपर दिये जा चुके है। उन नामों से किसी को यह ख्याल आ सकता है कि दोषो के त्याग को व्रत का नाम दिया है। यद्यपि यह ठीक है मगर यह नही समझ लेना चाहिए कि व्रतधारी होने का अर्थ निष्क्रिय होकर बैठ जाना है। व्रत के दो बाजू हैं-एक निवृत्ति और दूसरा प्रवृत्ति। निवृत्ति और प्रवृत्ति के ठीक-ठीक मेल से ही व्रत मे पूर्णता आती है। बुरे कामो से निवृत्त होने के साथ अच्छे कामो में प्रवृत्त होना चाहिए। निवृत्त होने का व्रत लेने का आशय यही है कि उसके विरोधी अच्छे काम में प्रवृत्त होना आवश्यक है।

हिंसा, असत्य वगैरह दोषो का स्वरूप आगे बतलाया जायगा। उन दोषो का स्वरूप समझ कर उन्हे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी अहिंसा और सत्य आदि का पूरी तरह पालन होता है।

★ ★ ★

पाठ तेहरवाँ

पहला अहिंसाव्रत और उसकी मर्यादा

(थूल प्राणातिपात विरमणव्रत)

अहिंसा की उपयोगिता :-

जैसे हमें जीवित रहना प्रिय है, उसी प्रकार सभी को प्रिय है। आत्मा की अमरता समझना इस जीवन का प्रयोजन है। इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए शरीर का मोह घटाये विना छुटकारा नही। इस प्रकार की भावना से सयम पैदा होता है। तप उत्पन्न होता है और दूसरे को तनिक भी कष्ट न पहुंचाने की दया का जन्म होता है।

जहाँ विचार है वहाँ यह सब उत्पन्न हो सकता है। विचार मनुष्य को हो सकता है, इसलिए अहिंसा मनुष्य का धर्म साबित होता है। प्रत्येक धर्म मे दया को स्थान मिला है। दया के विना धर्म बन ही नही सकता और दया ही अहिंसा है। इसी कारण कहा गया है- " अहिंसा परमो धर्म " अहिंसा या दया मनुष्य के लिए खास तौर से उपयोगी है।

हिंसा का त्याग करना अहिंसा है। मगर इतने से काम नही चलता। हिंसा का त्याग करने के साथ हिंसा का मुका-बिला भी करना चाहिए। दूसरे की हिंसा की अपेक्षा आत्मा की हिंसा अधिक हानिकारक है। अतएव उसे नही होने देना चाहिए।

इस दृष्टि से देखने पर क्रोध भी हिंसा है, बिना सोचे समझे और देखे–भाले सहसा काम कर डालना भी हिंसा है, खराब वर्ताव करना भी हिंसा है, दूसरो को गुलाम बनाना भी हिंसा है। शिकार, मासाहार, शराब और दूसरे छोटेमोट व्यसनो मे भी हिंसा है।

यद्यपि वनस्पति, अनाज, पाणी और पवन वगैरह मे भी जीव है, और उनको काम मे लेना भी हिंसा है, लेकिन ऐसी हिंसा अनिवार्य हिंसा है। मदिरापान या मासाहार की इच्छा को हम समझ सकते है और त्याग भी सकते है। उनका त्याग कर देने से हमारी कोई हानि नही होती। जीवित रहने के लिए उनकी आवश्यकता नही है।

कोई कह सकता है-जीव अमर है। वह मर नही सकता फिर हिंसा के पाप का प्रश्न ही पैदा नही होता। बात सही है। पर जीव के साथ लगे हुए शरीर का छेदना–भेदना होता है, और ऐसा करने का हमे कोई अधिकार नही है। इसके सिवाय जीव मरता भले ही न हो, पर मारने की इच्छा मे तो हिंसा की भावना है ही। यह ही आत्मा का नाश करती है फिर मारने वाला अगर समझता है कि जीव की मृत्यु नही होती तो वह किसी को मारने की खोटी इच्छा ही क्यो करता है? और प्रयत्न भी क्यो करता है? पशुओ को इतना ज्ञान नही होता, पर मनुष्यो मे ज्ञान होता है। विवेक मनुष्य का मुख्य गुण है। अतएव 'जीवो जीवस्य भक्षणम्' के बदले 'जीवो जीवस्य रक्षणम्' यह मनुष्य का आदर्श होना चाहिए। इसीलिए तो सभी धर्मशास्त्रो मे 'अहिंसा परमो धर्मः' माना गया है।

अहिंसा का स्थान :-

और सब व्रतो मे अहिंसा व्रत मुख्य है। अतएव उसका स्थान पहला है । जैसे धान्य की रक्षा के लिए बाड की जरूरत होती है, उसी प्रकार दूसरे व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए ही है।

अहिंसा का स्वरूप :-

अहिंसा का स्वरूप समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले उसकी विरोधी हिंसा को ठीक तरह समझ लिया जाय इसीलिए इस व्रत का नाम 'अहिंसाव्रत' न रखकर 'प्राणातिपात विरमणव्रत' रखा गया है । उसके पहले गृहस्थो के लिए 'स्थूल' शब्द भी जोडा गया है।

पहला व्रत स्थूल हिंसा से विरत होने का है । और स्थूल हिंसा का अर्थ चलते-फिरते प्राणियों (त्रस जीवो) की हिंसा किया जाता है । समझदार मनुष्यो को ऐसे प्राणियो की हिंसा से सदैव बचना चाहिए । अलबत्ता, इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि गृहस्थो को छोटे जीवो की हिंसा करने की छूट्टी है ।

वास्तविक बात यह है कि गृहस्थी की जवाबदारियों को पूरा करने मे छोटे (स्थावर) जीवो की हिंसा हो ही जाती है। फिर भी गृहस्थ वैर की भावना से इन जीवो को नही मारता और न शौक के लिए ही मारता है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए ही इस व्रत में छूट दी गई है । इस छूट का दुरुपयोग न किया जाय, इस उद्देश्य से सातवे व्रत मे उपभोग-परिभोग के पदार्थों की

मर्यादा करने का विधान किया गया है। अगर इतनी छूट न दी जाय तो आजीविका के लिए खेती, पारमार्थिक कार्य प्रामाणिक धन्धा वगैरह काम भी श्रावक न कर सके। ऐसी हालत मे श्रावक निकम्मा और निठल्ला बन जाय। दूसरे श्रावक जब स्वय काम करता है तो वह यतना से करता है दूसरो से अगर वही काम कराएगा तो अविवेकी होने के कारण वे यतना नही कर सकेगे। इस प्रकार सच्चा श्रावक हिंसा से बचने का पूरा प्रयत्न करता है, फिर भी जो हिंसा अनिवार्य है, उसकी छूट उसे रखनी पडती है।

प्रश्न हो सकता है कि जब प्रत्येक जीव समान है, जो जीवनशक्ति फूल की पाखुडी मे रही हुई है वही कीडी और मनुष्य मे भी है तो फिर छोटे जीवो की हिंसा करने की आज्ञा किस प्रकार दी जा सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आज्ञा तो किसी भी जीव की हिंसा करने की नही है। पर अनिवार्य होने से लाचारी के कारण ही श्रावक सूक्ष्म हिंसा का त्याग नही कर सकता।

एकेन्द्रिय जीवो के विषय मे इतना विवेक रखने की सूचना करने के बाद दो इन्द्रिय आदि जीवो के विषय में इस व्रत में यह छूट रक्खी गई है कि—रोग या अन्य किसी कारण से इन जीवो की उत्पत्ति हो जाय तो उन्हे दूर करने के लिए, यतना करने पर भी यदि हिंसा हो जाय तो वह भी अनिवार्य है।

अब रही पचेन्द्रिय जीवो की बात। उनके विषय में भी नियम है। निरपराध जीवो को तो नही ही मारना चाहिए। साथ ही अपराधी को हिंसा की या वैर की भावना से नहीं

मारना चाहिए । परन्तु जैसे वैद्य की कटुक दवाई से रोगी को दुःख होता है, माँ बाप द्वारा लड़के को सुधारने का प्रयत्न करने मे लड़के को दुख होता है, उसी प्रकार नीति की रक्षा के खातिर सामना करने या बचाव करने मे भी हिंसा हो सकती है । इस प्रकार की हिंसा से भी श्रावक का व्रत खडित नही होता । जैनधर्म श्रावक के लिए उत्तम है । श्रावक ऐसा न करे तो वह अहिंसा के नाम पर कायर कहलाएगा । इसी कारण भावहिंसा का सर्वथा निषेध किया गया है और उसी द्रव्यहिंसा की छूट रक्खी गई है जो श्रावक के लिए अनिवार्य है । वैरभाव या विलास की दृष्टि से यह छूट नही है ।

जहाँ वैर है, इच्छा है और विलास है वहाँ पाप है । पाप के धधे १५ कर्मादानो में वर्णन किये गये है । श्रावक ऐसे धधे पसद नही कर सकता । ऐसे धधो में जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ को पूरा करने की दृष्टि के बदले स्वार्थ की दृष्टि ही मुख्य है ।

पन्द्रह कर्मादानो का विशेष खुलासा सातवे व्रत में किया जायगा ।

अहिंसाव्रत के अतिचार :–

अहिंसाव्रत के उपयोग के विषय मे और उसकी मर्यादा के विषय मे इतना जान लेने के बाद अब हमें इस व्रत मे लगने वाले अतिचारो या दोषो के विषय मे विचार करना चाहिए । इस व्रत के पांच अतिचार है । इस व्रत में भूले तो बहुत-सी होती हैं, मगर उन सबका समावेश इन पांच अतिचारो मे ही हो जाता है । पांच अतिचार इस प्रकार है :–

(१) बंध—कोई प्राणी अपनी इष्ट जगह मे जा रहा है तो उसे रोक देना, बाध देना या ऐसा करने में सहायता करना आदि बातो का भी इसमे समावेश होता है। तोता, चूहा, शेर या गाय आदि को बन्धन में बाध देना या मनुष्य को जेल में डालना, पति या सासू के द्वारा बहू को बाँध रखना, सेठ या ऊँचे अधिकारी द्वारा किसी मनुष्य को जकड रखना भी इसी अतिचार मे सम्मिलित है।

(२) वध—पशु पक्षी या स्त्री-पुरुष आदि को मारना-पीटना, चाबुक आदि से मारना, यह सब वध नामक अतिचार है।

(३) छविच्छेद-क्रूरता के साथ पशु की चमडी को या अंग को छेदना। मनुष्य के प्रति भी इस प्रकार का क्रूर वर्त्ताव करने से यह अतिचार लगता है।

(४) अतिभार—मनुष्य या पशु मे सामर्थ्य से ज्यादा काम लेना। उन पर शक्ति से ज्यादा बोझ लादना। नौकर से बहुत ज्यादा काम लेना। ऐसा करने से व्रत मे दोष लगता है।

(५) भक्तपानविच्छेद—मनुष्य या पशु वगैरह किसी भी जीव के खाने-पीने में अंतराय डालना। अपने आश्रित पशु आदि को समय पर भोजन पानी न देना।

अहिंसक का कर्त्तव्य :—

अहिंसाव्रत लेने वाले को व्रत की रक्षा करने के लिए नीचे लिखे कर्त्तव्य ध्यान में रखने चाहिए :—

(१) जीवन मे सादगी बढाते रहना चाहिए और आवश्यकताएँ कम करनी चाहिए।

(२) सदैव सावधान रहना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कभी या कही भूल न होने पावे।

(३) जो कुटेवे घर कर बैठी हैं, उन्हे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।



पाठ चौदहवां

पहला अणुव्रत

(सूत्रपाठ–थूलपाणाइवायाओ-वेरमणं)



पढमं अणुव्वयं थूलपाणाइवाय–वेरमणं।

तसजीवे बेइंदिय–तेइंदिय-चउरिंदिय–पंचिंदिय–जीवे णाऊण आउट्टीहणणबुद्धीए हणणहणावणपच्चक्खाण, ससरीरसविसेसपीडाकारिणो,ससंबन्धी सरीरसविसेसपीडा-कारिणो, सावराहिणो वा वज्जिऊण।

जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा, एअस्स पढमस्स थूलगपाणाइ-वायवेरमणस्स समणोवासएण पंच आइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा तं जहा–

लिखते हैं । कितने ही वकील झूठा मामला अपने हाथ मे लेक
अपने मुवक्किलो को झूठी बाते समझाते हैं । फरियादी झूठ
फरियाद करते है । बात को बदल देते है । झूठे गवाह तैया
करते है । गवाह भी झूठी गवाही देते है । कोई दूसरो की गुप्
बात को जाहिर कर देते हैं । दूसरों की निदा करते है । ऐसा
करने से सत्य की रक्षा नही होती बल्कि हिंसा का भी दो
लगता है । अपने शरीर के कोमल भाग में लोहे का काटा चुभ
पर जैसी वेदना होती है, वैसी ही वेदना खराब भाषा बोलने
दूसरो को होती है ।

यह तो हुई लिखने और बोलने की बात । लेकिन असत्
विचार और असत्य वर्त्ताव के विषय मे भी यही बात समझ
लेना चाहिए । खोटी कल्पना करना वगैरह असत्य विचारो
भी दोष लगता है । इसी प्रकार हमारे हरेक अनुचित काम
दूसरो को हानि पहुचाने वाले कार्य भी असत्य ही हैं । इ
बातो को जानकर त्याग करना चाहिए ।

सत्य व्रती के कर्त्तव्य :-

(१) सच्चा, सभ्य, मधुर, थोडा अर्थवाला, प्रयोजनवाला
बोलना, लिखना और विचारना सीखना चाहिए ।

(२) मन, वाणी और काया के कार्यों मे एक हो जाना
चाहिए । अर्थात् सत्य ही विचारना और जैसा विचार हो वैसा
ही कहना या लिखना और वैसा ही अमल में लाना ।

(३) जहाँ दूसरों के प्रति असत्य या अप्रिय सत्य बोलने
की जरूरत आ पडे वहाँ शक्य हो तो मौन रखना ।

अगर इन बातों पर अमल किया जाय तो जगत् में बहुतसी हिंसा कम हो सकती है। एक का दूसरे पर विश्वास बैठ सकता है और बहुत-सा वैर-विरोध भुलाया जा सकता है। बहुत से अपराध और क्लेश बन्द हो सकते हैं और आत्मा सुधर सकता है।



पाठ सोलहवां

दूसरा अणुव्रत

स्थूल मुसावाय वेरमणं

मूलपाठ

बीयं अणुव्वयं थूलमुसावायविरमणं। से य मुसावाए पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा–कन्नालीए, गवालीए, भोमालीए, नासावहारे, कूडसक्खिज्जे।

इच्चेवमाइस्स महंतमुसावायस्स पच्चक्खाणं। जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं-न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा; एअस्स थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा: तंजहा (१) सहसब्भक्खाणे (२) रहस्सब्भक्खाणे (३) ×,सदार–

× श्राविका को 'सभत्तारमंतभेए' बोलना चाहिए। इस अतिचार के दो रूप विशेष प्रचलित हैं– (अ) सगारमंतभेए–साकारमन्त्रभेद और (आ) सदारमंतभेए अर्थात् स्वदारमंत्रभेद।

मंतभेए। (४) मोसुवएसे (५) कूडलेहकरणे। तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

अर्थ

दूसरा अणुव्रत–स्थूलमृषावाद से विरमण। वह मृषावाद पाँच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार–(१) वर-कन्या संबंधी झूठ (२) पशु संबंधी झूठ (३) भूमि संबंधी झूठ (४) धरोहर को हजम करने संबंधी झूठ (५) झूठी गवाही। इत्यादि मोटा झूठ बोलने का पच्चक्खाण।

मैं जीवन–पर्यन्त दो करण तीन योग से मृषावाद (झूठ) बोलूं नहीं, बुलवाऊँ नहीं, मन, वचन, काय से। ऐसे दूसरे मृषावाद विरमण व्रत के पांच अतिचार जानने योग्य है, आचरण योग्य नहीं है। वे इस प्रकार हैं।

मूल	अर्थ
(१) सहसब्भक्खाणे–	बिना सोचे-विचारे सहसा झूठ बोला जाना
(२) *रहस्सब्भक्खाणे–	किसी की गुप्त बात प्रकट करना।
(३) सदारमंतभेए–	अपनी स्त्री या मित्र का गुप्त भेद प्रकट करना।
(४) मोसुवएसे–	झूठा उपदेश या खोटी सलाह देना।
(५) कूडलेहकरणे	झूठा लेख–दस्तावेज वगैरह लिखना

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

---

*रहस्सब्भक्खाणे का दूसरा अर्थ एकदम विचार किये बिना बोलना भी किया जाता है।

पाठ सत्रहवाँ

तीसरा अस्तेय व्रत

(स्थूल-अदत्तादान से विरमण)

व्याख्या :–

अदत्तादान अर्थात् विना दिया लेना। इसे चोरी कहते है और स्तेय भी कहते है। आज्ञा लेकर लेना अस्तेय है।

जिस वस्तु का मालिक कोई दूसरा हो, वह भले ही तिनके की तरह विना कीमत की ही क्यो न हो, फिर भी उसके मालिक की आज्ञा लिये विना उसे ले लेना स्तेय है। विना हक का धन (परिग्रह) इकट्ठा करना भी चोरी ही है।

चोरी पाप क्यो ?

चोरी करने से भय उत्पन्न होता है। समाज का अविश्वास बढता है। दूसरे लोगो की शान्ति भग होती है। इसलिए महान् दोष है। चोरी करने मे हिंसा और असत्य दोनो दोष होते हैं। इसलिए किसी का अदत्त नही लेना चाहिए।

चोरी की कुटेव :–

बालक आपस मे एक दूसरे की कलम या पैन्सिल चुरा लेते हैं। अव्वल नम्बर आने के लिए या पास होने के लिए चोरी करते हैं या देखकर नकल कर लेते है। दूसरे की खानगी मे गुप्त बात सुनकर उसका गलत अर्थ करते है। दूसरे का गुप्त

पत्रादि लेख उसकी आज्ञा के विना चुपके चुपके बाच लेते है। यह सब एक प्रकार की चोरी है।

उपदेशक, लेखक या वक्ता किसी के विचारो या लेखो की नकल करके अपना नाम जाहिर करे, व्यापारी एक चीज दिखलाकर उसके वदले दूसरी चीज दे दे, अच्छी दिखाकर खराव दे दे, अवसर से लाभ उठाकर वहुत नफा ले, धोखा दे, सट्टा या जुआ खेले, हक से ज्यादा ले, इन सव वातो का चोरी मे समावेश होता है। कारीगर या गुमास्ता पूरा मिहनताना लेकर पूरा काम न करे, दूसरे की मिहनत से आप फायदा उठावे, अधिक लाभ लेकर दूसरे के गुजरान को धक्का पहुँचावे, यह सब छोटी-मोटी चोरी ही है। श्रावक को ऐसा न करने का सदा ध्यान रखना चाहिए।

अस्तेय का अतिचार :–

(१) अपनी इच्छा या आज्ञा के विना कोइ आदमी चोरी करके कोई वस्तु लाया हो तो उसे ले लेना 'तेनाहडे' (स्तेनाहृत) दोप गिना जाता है। ऐसा काम लालच के कारण होता है इस प्रकार चोरी की वस्तु खरीदने से चोरी की आवृत्ति को उत्तेजन मिलता है।

(२) किसी भी प्रकार की चोरी के लिए किसी की सहायता करना, या दूसरे से चोरी कराना अथवा ऐसे कामो मे सहमत होना, यह सब 'तक्करप्पओगे' (तस्करप्रयोग) नामक दोप (अतिचार) है।

(३) जुदे-जुदे राज्य माल को निकास या आयात पर अकुश रखते है। आने-जाने वाले माल पर चुगी लगाते हैं

ऐसी व्यवस्था को अपने स्वार्थ के लिए भग करना 'विरुद्ध-रज्जाइकम्मे, (विरुद्धराज्यातिक्रम) नामक अतिचार है ।

(४) छोटे-मोटे माप-तौल से लेन-देन करना 'हीना-धिकमानोन्मान या कूडतोले कूडमाणे' नामक अतिचार है ।

(५) असली के वदले नकली वस्तु चलाना, एक वस्तु दिखलाना और दूसरी दे देना या वस्तु में मिलावट कर देना 'तप्पडिरूवगववहारे' (तत्प्रतिरूपकव्यवहार) दोप कहलाता है ।

इन पाच दोषो मे ऊपर वतलाई हुई सभी प्रकार की चोरी का समावेश हो जाता है । ऐसा समझकर कभी किसी भी प्रकार की चोरी नही करनी चाहिए ।

अस्तेयव्रतधारी को सूचना :-

(१) किसी भी चीज की तरफ ललचाने की आदत नही रखना चाहिए ।

(२) अपनी मिहनत से जो कुछ मिले उसीमे सतोप करना ।

(३) सग्रह करने की आदत पर और अपनी आवश्यक-ताओ पर नियन्त्रण रखना चाहिए ।

(४) कुटुम्ब, समाज और देश के प्रति अपनी शक्ति के अनुसार अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए ।

(५) जब तक लोभ दूर न हो तब तक अपने काम की वस्तुएँ खुद ही, नीति के मार्ग से प्राप्त करना चाहिए ।

पाठ अठारहवां

तीसरा अणुव्रत

थूल अदिण्णादाण-वेरमणं

(स्थूल चोरी का त्याग)

मूलपाठ

तइयं अणुव्वयं थूलअदिण्णादाण-वेरमणं,

से य अदिण्णादाणे पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा--(१) खत्तखणणं (२) गंठिभेअणं (३) जंतुग्घाडणं (४) पडिवत्थुहरणं (५) इच्चेवमाइस्स अदिण्णादाणस्स पच्चक्खाणं ; अप्पाण. य सबंधि, वावारसंबधि, तुच्छवत्थु विप्पजहिऊणं।

जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा, कायसा, एअस्स तइअस्स थूलगअदिण्णादाण-वेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा-- (१)तेनाहडे (२) तक्करप्पओगे (३) विरुद्धरज्जाइक्कमे (४) कूडतुलकूडमाणे (५) तप्पडिरूवगववहारे, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अर्थ

तीसरा अणुव्रत स्थूल अदत्तादान (चोरी) से विरति।

अदत्तादान पाच प्रकार के कहे गये हैं। वह इस प्रकार– (१) खात खनना (२) गाठ काटना (३) ताला तोडना (४) पडी हुई वस्तु लेना (५) मालिक वाली चीज विना पूछे लेना, इत्यादि स्थूल अदत्तादान लेने का पच्चक्खाण।

जीवन पर्यन्त दो करण तीन योग से चोरी करूँ नही, कराऊँ नही, मन वचन काय से। ऐसे तीसरे अदत्तादान विरमण व्रत के पाच अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नही हैं। वे इस प्रकार –

मूल	अर्थ
(१) तेनाहडे–	चोरी का माल लिया हो।
(२) तक्करप्पओगे–	चोर को उत्तेजन दिया हो।
(३) विरुद्धरज्जाइक्कमे–	(चुगी-चोरी आदि) राजविरुद्ध काम किया हो।
(४) कूडतुलकूडमाणे–	झूठा नाप तोल किया हो।
(५) तप्पडिरूवगववहारे–	वस्तु मे मिलावट की हो।

तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।



पाठ उन्नीसवाँ

चौथा ब्रह्मचर्यव्रत

(स्वस्त्री संतोष–परस्त्री विरमण)

व्याख्या :–

जो ब्रह्म न हो वह अब्रह्म कहलाता है। जिसका पालन करने या अनुसरण करने से सद्‌गुण वढे उसे ब्रह्म कहते हैं। और जिससे सद्‌गुण न वढकर दोप वढे वह अब्रह्म है। अब्रह्म का त्याग करके ब्रह्म का आचरण करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। अपनी समस्त इन्द्रियो पर काबू रखना, किसी भी इन्द्रिय को विपयो की ओर जाने से रोकना ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य की महत्ता :–

मनुष्य का जीवन सत्य का आचरण करने के लिए ही है। जो सत्य के लिए मिहनत करता है, वह किसी भी दूसरी वस्तु की अगर इच्छा करे तो व्यभिचारी ठहरता है। ऐसी स्थिति मे विकार की आराधना तो की ही कैसे जा सकती है? एक भी ऐसा उदाहरण नही मिल सकता कि किसी ने भोग-विलास से सत्य की प्राप्ति की हो।

अहिंसा का पालन भी सत्य के विना अशक्य है। अहिंसा अर्थात् जगत् के प्राणी मात्र पर प्रेम। जहाँ एक स्त्री को पुरुष के लिए प्रेम हो और पुरुष को स्त्री के लिए प्रेम हो, वहाँ दूसरो के लिए क्या वच रहा? वे दोनो अगर किसी

तीसरे से ही प्रेम रक्खेंगे तो उनसे जगत् की भलाई का कोई भी काम नही हो सकेगा। उनसे ब्रह्मचर्य व्रत भी पालन नही किया जा सकता। अहिंसाव्रत का पूरी तरह पालन करने वाला विवाह नही कर सकता। फिर दुराचार का सेवन तो कर ही कैसे सकता है? (गाधीजी के व्रतविचार से)

ब्रह्मचर्य की मर्यादा :–

तब प्रश्न खडा होता है कि विवाह क्या वर्ज है? अथवा विवाहित को सत्य की प्राप्ति कभी हो ही नही सकती? वह अपना बलिदान नही कर सकता? इसके लिए एक ही मार्ग है, और वह यह है कि विवाहित को अविवाहित बन जाना चाहिए। विवाहित स्त्री-पुरुप, एक दूसरे को भाई-बहन समझने लग जायें। ऐसा करने से सब चीजो से छुटकारा मिल जाता है। जगत् की स्त्रीमात्र वहिन है, माता है, लडकी है, यह विचार ही मनुष्य को एक दम ऊँचा ले जाने वाला है। इसमें पति-पत्नी को कुछ खोना नही पडता, उलटे उनके स्नेह में वृद्धि होती है। जहा स्वार्थ से भरा ससार होता है वहाँ कलह होता है। (गाधीजी के व्रतविचार से)

लेकिन जो लोग इस आदर्श तक भी नही पहुँच सकते, उनके लिए दूसरा आदर्श बतलाया गया है। वह आदर्श है 'स्वस्त्रीसतोप'। अर्थात् अपनी पत्नी को छोडकर संसार की समस्त स्त्रियों को माता एव वहिन के समान समझना। स्त्रियो के लिए इसे यों कह सकते हैं–अपने पति को छोडकर ससार के पुरुप मात्र को पिता, भाई या पुत्र के समान समझना। इस आदर्श का आशय यह है कि श्रावक नीतिपूर्वक स्वीकार की

हुई अपनी स्त्री के सिवाय और श्राविका नीतिपूर्वक स्वीकार किये हुए अपने पति को छोडकर किसी दूसरे की ओर बुरे भाव से न देखे।

स्वनारी-मर्यादित ब्रह्मचर्य पालने का आदर्श वहुतों के लिए उपयोगी सावित हुआ हैं।

साधु और साध्वी तो पूरा-पूरा ब्रह्मचर्य पालते हैं। इस-लिए वे देव, पशु या मनुष्य जाति के किसी भी व्यक्ति के साथ मैथुन का सेवन नही कर सकते। श्रावक और श्राविका को भी इस पथ पर चलना है। अगर सतान प्राप्त करने की इच्छा के कारण एकदम इस मार्ग पर वे न चल सके तो धीरे-धीरे चलने की छूट उन्हे दी गई हैं। इस मर्यादा मे भी अगर थोडी सतान मे सतोष न कर लिया जाय और जब तक इन्द्रियां शिथिल न हो जाएं तब तक अब्रह्मचर्य सेवन करता रहे तो उसे स्वस्त्री या स्वपुरुष के साथ व्यभिचार ही गिनना चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत, दूसरे व्रतो की तरह मन, वचन और काय से पालन किया जाता है। जो अपने शरीर को काबू में रखता जान पडता है लेकिन मन मे खराब इच्छा रखता है अथवा खराब वचन बोलता है, वह मूढ मिथ्याचारी है। मन में खराब इच्छाएं होने देना और शरीर को दबाने की कोशिश करना यह हानिकारक है। जहां मन होगा वहां शरीर को भी वह घसीट ले जाएगा।

ब्रह्मचर्य का पालन करने मे शरीर को बहुत लाभ होता है। उन लाभो का वर्णन करने की आवश्यकता नही है। सभी जानते हैं कि ब्रह्मचर्य पालने से शरीर बलवान् होता है, मन

दृढ होता है, आखो का तेज बढता है, उम्र लम्बी होती है, चेहरे पर चमक आती है, और परलोक भी सुधरता है। इसलिए ब्रह्मचर्य की तरफ पूरी तरह ध्यान देने की आवश्यकता है।

बालकों के जीवन-विकास के लिए :-

बालक अर्थात् कोमल पोधा। उसे छुटपन से ही भली-भाति सभाला जाय तो सुन्दर फल मिल सकते हैं। कोमल पौधे को जिस ओर झुकाया जाय उसी ओर झुक सकता है। इसी तरह बालक में जैसे सस्कार डालना चाहे वैसे डाल सकते हैं। मगर बालको का सुधार माता-पिता के ऊपर निर्भर हैं।

इसलिए श्रावको को अपने तथा अपनी संतान के जीवन-विकास के लिए इस व्रत की ओर पूरा घ्यान देना चाहिए।

ब्रह्मचर्य-व्रत के अतिचार :-

(१) अपनी विवाहिता किन्तु छोटी-कच्ची उम्र की स्त्री के साथ कामभोग का सेवन किया हो तो " इत्तरियपरिग्गहियागमण " दोष लगता है।

(२) जिस स्त्री के साथ शादी नही हो चुकी है सिर्फ सगाई हुई है, उसके साथ काम-क्रीडा की हो तो " अपरिग्गहियागमण " दोष लगता है। क्योकि जब तक समाज के सामने विवाह नही हुआ है, तब तक उसके शरीर का उपयोग करना नीतिविरुद्ध है। इसके अतिरिक्त सगाई हो जाने पर भी, कारण-विशेष उपस्थित हो जाने पर दूसरी जगह विवाह

धारने का कन्या का जो अधिकार है, वह भी जोखिम में पड़
जाता है। इससे समाज में अव्यवस्था होती है।

(३) सृष्टिविरूद्ध काम करना या केवल खराब इच्छाएं
करना इससेभी " अनंगक्रीडा " दोष लगता है। जैसे जलती
आग में घी डालने से आग भडक उठती है, उसी प्रकार खराब
भावना रखने से बुरी इच्छाएँ और ज्यादा भडकती है। इसी
'स्वस्त्री–मर्यादा' या 'स्वपति–मर्यादा' का पालन करना अशक्य
हो जाता है। सन्तान भी खराब होती है।

(४) दूसरी वार विवाह करना दोष है और दूसरो के
विवाह कराने का धंधा करना भी दोष है। क्योंकि ऐसा धंधा
करने से खराब टेव पड जाती है। इसमे ब्रह्मचर्य की अपेक्षा
अब्रह्मचर्य होने का ज्यादा भय है।

(५) कामभोग की खूब इच्छा रखना भी अतिचार है।
यद्यपि यह मन का दोष है, मगर मन की इच्छा ही शरीर और
वाणी के विकार का मूल है। इसी से सब दोष उत्पन्न होते हैं।

स्त्री और पुरुष दोनो के लिए अपने–अपने तरीकों से
ऊपर कहे दोष लगते है।



पाठ बीसवाँ

चौथा अणुव्रत [थूल मेहुण वेरमण]

मूलपाट

चउत्थं अणुव्वयं थुलमेहुणवेरमणं, 'सदारसंतोसिए अवसेसमेहुणविहिपच्चक्खाणं', जावज्जीवाए दिव्वं दुविह तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा, मणुस्सतिरिक्खजोणिय एगविहं एगविहेणं न करेमि कायसा।

एअस्ससदारसंतोसस्स' समणोवासएणं' पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तंजहा–

(१) इत्तरियपरिग्गहियागमणे (२) अपरिग्गहियागमणे (३) अणंगकीड़ा (४) परविवाहकरणे (५) कामभोगतिव्वाभिलासे, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अर्थ

चौथा अणुव्रत-स्थूल मैथुन (सभोग) से विरमण, अपनी

१–श्राविका को "सभत्तारसंतोसिए" कहना चाहिए ।

२–आजीवन ब्रह्मचारी को इस प्रकार पढ़ना चाहिए –

'जेसिं पुरिसाण (इत्थीण) कायाए सव्वाओ मेहुण पच्चक्खाण तेसिं दिव्वमाणुस्सतिरिक्खजोणियसंबंधि मेहुणस्स पच्चक्खाण'

३–श्राविका को 'सभत्तारसंतोसस्स' बोलना चाहिए ।

४–श्राविका को 'समणोवासिएणं' बोलना चाहिए ।

पाठ बाईसवां

पांचवां अणुव्रत

(थूलपरिग्गह--वेरमणं)

मूलपाठ

पंचमं अणुव्वयं थूलपरिग्गह-वेरमणं(इच्छापरिमाणं) ।

खेत्तवत्थूणं जहापरिमाणं, हिरण्णसुवण्णाणं जहा-परिमाण, धणधन्नाणं जहापरिमाणं, दुपय-चउप्पयाणं जहा-परिमाणं कुप्पस्स जहापरिमाणं, एवं मए जहापरिमाणं कयं तओ अइरित्तस्स परिग्गहस्स पच्चक्खाणं ।

जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा एअस्स पंचमस्स थूलगपरिग्गह--परिमाणवयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा तंजहा-

(१) खेत्तवत्थु--पमाणाइक्कमे (२) हिरण्ण--सुवण्णपमाणाइक्कमे (३) धणधन्न--पमाणाइक्कमे (४) दुपयचउप्पय--पमाणाइक्कमे (५) कुविय--पमाणाइक्कमे । तस्स मिच्छा मि दुक्कडं

अर्थ

पांचवां अणुव्रत-स्थूल परिग्रह से विरमण । १ खेत्त-क्षेत्र, वाडी, बगीचा आदि, २ वत्थु (वस्तु)—मकान, बगला, दूकान, वखार वगैरह । ३ हिरण्ण-चाँदी और चाँदी के जेवर, ४ सुवण्ण-सोना और सोने के जेवर, ५ धण-रोकडी रुपया, नोट, बॉन्ड, शेयर, कैश सर्टिफिकेट आदि, ६ धन्न-चौवीस प्रकार का धान्य-अनाज, ७ दुपद –मनुष्य दास, दासी, पक्षी आदि दो पैर वाले ८ चउप्पय–पशु, ढोर आदि चार पैर वाले, ९ कुप्प—तांबा, पीतल आदि धातुओ की चीजें, फरनीचर वगैरह ।

इन नौ प्रकार के परिग्रह का मैंने इच्छा परिमाण किया है। इसके उपरात अपने उपयोग के लिए सग्रह करने का मैं त्याग करता हूँ ।

मैं जीवन पर्यन्त एक करण तीन योग से, मर्यादा उपरात परिग्रह रखूगा नही, मन, वचन, काया से । ऐसे पांचवे स्थूल परिग्रहपरिमाण के पाच अतिचार ज्ञेय है, उपादेय नही । वे इस प्रकार :—

मूल	अर्थ
(१) खेत्तवत्थु–पमाणाइक्कमे–	खेत, मकान, आदि के परिमाण का उल्लघन किया हो ।

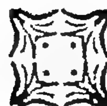
(२) हिरण्णसुवण्ण–पमाणाइक्कमे– चादी, सोना, जवाहरात आदि के परिमाण का उल्लंघन किया हो।

(३) धणधन्न–पमाणाइक्कमे– धन-धान्य के परिमाण का उल्लंघन किया हो।

(४) दुपयचउप्पय-पमाणाइक्कमे- द्विपाद, चतुष्पाद के परिमाण का उल्लंघन किया हो।

(५) कुविय–पमाणाइक्कमे– वर्त्तन-वासन, फरनीचर आदि घर वखरे के परिमाण का उल्लंघन किया हो तो वह मेरा पाप मिथ्या हो।





तत्त्वविभाग

अनुक्रमणिका

तत्त्व-विभाग



जीव के समान जिसमें उपयोग अथवा भाव नहीं होते हैं, वह अजीव तत्त्व कहा जाता है। ज्ञानादि शक्ति से रहित रं 'जड़' कहा जाता है।

अजीव तत्त्व में पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल का विवेचन दूसरी पाठावली में हो गया है। पुद्गलास्तिकाय मे से कर्मवर्गणा के पुद्गलों को जीव मोह की चिकनाई वश खींचता है जिससे जन्म-मरण होता है, यह विचार भी कर चुके। अब पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष तत्त्व का वर्णन इसमें किया जायगा।

जीव के साथ पुद्गलो का आकर्षण होता है वह दो प्रकार का है—१ शुभ और २ अशुभ। शुभफल का दाता पुण्य है और अशुभफल का दाता पाप है। वह पुण्य और पाप क्या है यह देखना है।

३–पुण्यतत्त्व और ४–पापतत्त्व

सामान्य व्याख्या–

पुण्य अर्थात् पवित्र, पुण्य अर्थात् अच्छा। जैनतत्त्वज्ञान मे शुभकर्मो को पुण्य कहा गया है। शुभ क्रिया का परिणाम शुभ ही हो सकता है, यह नहीं भूलना चाहिए। यह स्वाभावि

ही है कि शुभ क्रिया मे नीति, प्रामाणिकता, परहित बुद्धि और ऐसे ही अन्य सात्विक कार्य हों।

प्रश्न–नीति और प्रामाणिकता को समझने का मापदंड क्या?

उत्तर–अपने न्यायानुकूल कर्त्तव्य का अधिक प्रतिफल नही लेना, असत्य नही बोलना, कपट व्यवहार-धोखेबाजी नही करना, अन्य की वस्तु नही लेना, अन्य की धरोहर-अनामत नही दबाना, कुटुम्ब, ग्राम, देश अथवा राष्ट्र के प्रति अनुकूल होना आदि रूप से सामान्य नीति का पालन करना, यही नैतिकता और प्रामाणिकता है।

इसके अतिरिक्त दूसरो का भला करना, दूसरो के दुःख दूर करना, आत्म-भोग देना, दूसरो को सुखी देख कर सुखी होना एव दुःखी देखकर दुःख अनुभव करना, ये भी पुण्य के ही लक्षण है। मेघकुमार की आत्मा ने हाथी के भव मे खरगोश की रक्षा के लिए अपने प्राण दे दिये, उसी के परिणाम से राजा श्रेणिक के यहाँ मेघकुमार के रूप मे वे पुत्र हुए, हाथी से मनुष्य हुए एव योग्य वातावरण तथा साधनसपन्न हुए। यह पुण्य का ही परिणाम है।

पुण्यशाली और पापी?

इसी प्रकार नीति द्वारा प्राप्त किये हुए सबध और साधन भी पुण्य अथवा पुण्य के ही परिणाम कहे जा सकते है। कितने ही मनुष्य धन को ही पुण्य मानते है, किन्तु इससे धनवान पुण्य वाले ही है, यह सत्य नही है। नीति और प्रामाणिकता द्वारा आजीविका चलाते हुए धन एकत्र करके उसका उपयोग वैय–

क्तिक स्वार्थ के लिए अथवा परिग्रह रूप मोह के लिए नहीं होना चाहिए, किन्तु समाज, धर्म व देश-हित के लिए होना चाहिए।

केवल धनवान होने के कारण से ही किसी मनुष्य को कोई पुण्यशाली कहे तो यह सत्य नहीं है, किन्तु यदि वह मनुष्य परहित के लिए धन का व्यय करे तो वह नीतिसपन्न और प्रामाणिक है एव पुण्यात्मा है। आज यदि कोई मनुष्य नीति का उल्लघन करके धन एकत्र करता है, इस प्रकार उसके अधिकार मे धन होने के कारण से ही यदि हम उसे पुण्यशाली मान ले तो चोरो और लूटेरो को (जिनके अधिकार मे खूब धन होता है) भी पुण्यशाली मानना पडगा। पुण्य और पाप की परीक्षा करने की यह प्रणाली सर्वथा विपरीत है। मिथ्या है।

पुण्य का जो लक्षण प्रारभ मे ऊपर बतलाया है, उस लक्षण को देखते हुए सट्टा–फाटका, राक्षसी यत्र, वर–कन्या-विक्रय, जुवा, व्याजखोरी, दगाबाजी, नफाखोरी, अनिष्ट वस्तुओं का व्यापार, खराब नौकरी आदि सभी बुरे मार्गों द्वारा आने वाला धन पुण्य का नहीं किन्तु पाप का ही परिणाम है, कारण कि वह अनीतिमय और पापवर्धक है, अतएव वह अशुभ (पाप) कर्म का कर्त्ता है।

सद्गुण प्राप्त करने का प्रारम्भ तो शुभ क्रियाओ द्वारा ही करना पड़ेगा। किसी भी दिन पुण्य (धर्म–साधन) बिना धर्म का फल मिलने वाला नहीं है, ऐसा विचार करके ही ज्ञानी पुरुषों ने कितने ही श्रेष्ठ मार्ग बतलाये है। उनमें दान का मार्ग सर्वप्रथम है, यश अथवा प्रतिफल की बिना आशा किये ही निःस्पृह भाव से दान दिया जाना चाहिए।

दान के पात्र--

सुपात्र साधु-साध्वियो को अन्न, वस्त्र आदि देने का सर्व प्रथम कथन किया गया है। पच महाव्रतधारी साधु प्रभु की भक्ति अथवा धर्मोपदेश द्वारा उसका सुन्दर प्रतिफल देते हैं। ये दान भी इस प्रकार लेते है कि जिससे दाता के सयम और भक्ति मे उन्नति हो, यही कारण है कि दाता की इच्छा की अपेक्षा मे लेने वाले की इच्छा की जवाबदारी शास्त्रकारो ने अधिक बतलाई है।

भिक्षु की महत्ता किस लिए--

उत्तरदायित्व को समझने वाले ऐसे पच महाव्रतधारी भिक्षु के दर्शन और सहवास से भी दाता का सयम, भक्ति एव सत्य के प्रति प्रेम बढता है, इसीलिए 'अतिथिसविभाग' नामक बारहवे व्रत मे भी इसकी महत्ता बतलाई गई है। यहाँ पर दान को केवल अच्छी क्रिया ही नही समझना किन्तु आत्मसुधार का मार्ग समझना चाहिए। शास्त्र मे ऐसे दान को निर्जरा तप कहा गया है, यदि सयमभावना के दृष्टिकोण को त्याग कर किसी अन्य दृष्टिकोण से दान दिया जाय तो वह केवल अच्छा काम मात्र ही माना जायगा।

पुण्य के ९ प्रकार--

१ अन्नदान, २ जलदान, ३ आश्रय(मकानादि) दान, ४ आसन, पाट आदि का दान, ५ वस्त्रदान, ६ मन द्वारा किसी का भी इष्ट चितन, ७ वचन द्वारा सात्त्विक शब्दोच्चारण, ८ शरीर द्वारा सेवा करना और ९ नमस्कार करके विनीतभाव प्रदर्शित करना।

*** पुण्य का फल क्या ?**

पुण्य के संयोग से धर्म करने के ४२ साधन प्राप्त होते हैं। वे कर्मभेद के शुभ विभाग में बतलाये गये हैं। उनमें मनुष्य-गति, देवगति, सुन्दर और दृढ शरीर, अच्छा व्यक्तित्व, आदर्श प्रभाव आदि पुण्य के ही फल हैं किन्तु यदि इनका उपयोग धर्म के लिए नहीं किया जाय तो ये पाप अथवा अधर्म के कारण बन जाया करते हैं। इसलिए पुण्य को फल नहीं मानते हुए साधन ही समझना चाहिए, इन्हें मोक्ष नगरी में नहीं पहुँच जाय वहाँ तक सहायक ही मानना चाहिए और उन्हें केवल फल मानकर भोगविलास में ही आसक्त नहीं रहना चाहिए।

अन्त में तो साधन (पुण्य) त्याज्य ही है--हेय ही है और ऐसा समझने पर ही इसे छोड़ा जा सकेगा।

पाप क्या है ?

नौ तत्त्वों में पुण्य और पाप को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्थान दिया गया है किन्तु धर्म और अधर्म को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्थान नहीं दिया है, धर्म का समावेश संवर में और अधर्म का समावेश आस्रव तत्त्व में हो सकता है और कितने ही आचार्यों ने ऐसा किया भी है, उनकी दृष्टि में पुण्य यह 'शुभ आस्रव' है और पाप यह 'अशुभ आस्रव' है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार यदि पुण्य क्रिया धर्मानुलक्षी हो तो यह क्रिया आस्रव के स्थान पर संवर के लिए साधनरूप

* उपर्युक्त नौ प्रकार की क्रियाओं को शुभकर्म अथवा पुण्य कहा गया है। यदि ये ही क्रियाएं। धर्म का लक्ष्य करके की जाँय तो वह पुण्य भी संवर का निमित्त बन जाता है।

हो जाती है। किन्तु यदि पुण्य क्रिया धर्मानुलक्षी न हो तो वह क्रिया बन्धरूप बन जाती है।

जिन आचार्यों ने पुण्य तथा पाप को स्वतत्र तत्त्व के रूप में निर्देश किया है, उनकी दृष्टि मे यह तात्पर्य था कि जन-साधारण पुण्य और पाप दोनो को आश्रव रूप मान लेने पर पाप से भी निवृत्त नही होगे, कारण कि दोनो आश्रवरूप हैं तो फिर पुण्य करो अथवा पाप करो, इसमें क्या अन्तर है ? ऐसा समझ लेगे।

साधारण पुरुषो को पाप से पुण्य की ओर ले जाने के लिए दोनों तत्त्वो को भिन्न-भिन्न बतला कर कहा कि यदि पुण्य आत्मानुलक्षी नही होगा तो वह आश्रवरूप बन जायगा, इसलिए आत्मानुलक्षी बनने का ध्यान रखो, आदर्श रखो, बाह्य दृष्टिकोण से तो पुण्य शुभ क्रिया है और पाप अशुभ क्रिया ही है। साराश यही है कि बाह्य क्रियाओ से या तो पुण्य होगा अथवा पाप, इन दोनो मे से एक ही रहने वाली है।

पाप के भेद–

पाप अर्थात् अशुभ कर्म। निकृष्ट पुद्गलो में अथवा अनिष्ट आदतो में यदि आत्मा मग्न हो तो वह पापी ही बनती है। पाप के १८ प्रकार सक्षिप्त रूप से प्रतिक्रमण मे बतलाये गये हैं, इन अठारह पापस्थानो का आचरण नही करना चाहिए। जो आचरण करता है उसको पाप का फल भोगना पडता है।

पाप का फल–

पाप का परिणाम आत्मविकास के साधनो मे कठिनाइयाँ पैदा होना है। आत्मविकास मे सहायक कारणो की प्राप्ति

पुण्य के कारण से होती है। पुण्य के फल से सर्वथा विपरीत और अतितुच्छ ऐसा पाप का फल ८२ प्रकार से भोगना पड़ता है। उन ८२ भेदों का सार इस प्रकार है–

८२ प्रकार के कर्म-वर्णन में अनिष्ट आदतों को देख लेना चाहिए। नरकगति, तिर्यंच की नीचगति, न्यून इन्द्रियों की प्राप्ति, अज्ञान, अति निद्रा, दुःख, मोह, अति क्रोध, मान, माया, लोभ आदि, कुरूप शरीर, रोगी शरीर, दुर्बल शरीर, दुर्गन्ध शरीर, अपयश वाली दशा, कठिनाइयाँ आदि अनिष्ट और तुच्छ साधन पाप के ही परिणाम है, इसलिये प्रत्येक स्थिति में पाप तो छोड़ने योग्य ही है।

आश्रव–

कर्म की साधारण व्याख्या तो कही जा चुकी है और विशेष आगे कही जाएगी। आश्रव अर्थात् आत्मा के पास कर्म का आगमन। शुभकर्म का आगमन पुण्य अर्थात् शुभ आश्रव और अशुभकर्म का आगमन पाप अर्थात् अशुभ आश्रव।

पुण्य, कर्मों के आश्रव रूप है फिर भी एकान्त रूप से छोड़ने योग्य नहीं है, कारण कि यह भी कर्मरहित अवस्था (शुद्धदशा) तक पहुँचाने में साधन रूप है, साध्य को दृष्टि में रखते हुए साधन रूप पुण्य का अच्छा उपयोग करने योग्य ही है।

जो पुण्य को ही साध्यरूप में मानकर बैठ जाय उसे पुण्य को साध्यरूप में नहीं मानने के लिये समझना चाहिये, किन्तु सर्वथा छोड़ देने के लिए नहीं कहा जा सकता है। जैसे

नोट:–पुण्य में आत्मा पुद्गल के वश में होता है, जबकि धर्म के अवसर में पुद्गल आत्मा के वश में होता है।

लघन करने का विधान स्वस्थ होने के लिये ही कहा जाता है, किन्तु इसका अर्थ सर्वथा भोजन त्याग देना नही है, अन्यथा अर्थ के स्थान पर अनर्थ की सभावना हो सकती है, वैसे ही "पुण्य हेय है" का कथन उसी दशा को लक्ष्य मे रखकर कहा गया है न कि सर्वथा त्याग करने के लिये ।

हां पाप तो सदैव के लिये छोडने योग्य ही है । इस लिये पाप ज्ञेय (जानने योग्य) कहा जा सकता है किन्तु एकत्र करने योग्य नही कहा जा सकता ।

तुलनात्मक दृष्टि से यदि एक ओर अधर्म हो और दूसरी ओर पाप हो, तो अधर्म की अपेक्षा पाप को ठीक माना जायगा जैसे, मनुष्य कायर बने तो यह अधर्म कहा जायगा इसकी अपेक्षा तो आक्रमण करने वाले का सामना करे और ऐसा करते हुए कोई अनिष्ट काम कर डाले तो भी वह भागने वाले कायर की अपेक्षा ऊँचा है । साहस के साथ सामना करने के लिए जो खडा रहता है वह प्रशंसनीय होता है, किन्तु अनिष्ट क्रिया करने वाला प्रशंसनीय नही होता है वह तो हेय ही माना जायगा । किन्तु कोई वीरतापूर्वक सामने खडा रहा और सम-भाव स्थिति बराबर कायम रक्खी तो वह धर्म पर स्थिर रहा, ऐसा माना जायगा । यही सर्वोत्तम वस्तु है, ऐसा धार्मिक पुरुष जो क्रिया करेगा वह शास्त्र मे उल्लेखनीय होगी अर्थात् वह ऐसी क्रियाएें करता हुआ भी कर्म-बन्धनों को काटता रहेगा। किन्तु ऐसी स्थिति मे रहने वाले पुरुष मे यदि समभावो का अभाव रहा और अभिमान भाव जागृत हुआ और अहकार किया तो उसने पुण्य कमाया सही माना जायगा, किन्तु धर्माचरण नही कहा जायगा ।

ऐसे पुण्यशाली को पुण्य के प्रताप से शुभकर्मों का आश्रव होगा और उनके फलरूप में उसको अच्छे साधनो की प्राप्ति होगी किन्तु साधनो की प्राप्ति के बाद वह विकास करेगा या ह्रास की ओर जायगा यह निश्चयरूप से नही कहा जा सकता है, यदि वह समदृष्टिशील होगा तो उन साधनो का उपयोग आत्मविकास के लिए करेगा एव पुण्य को धर्म का निमत्त बना देगा। यदि किसी ने अभिमान नही करते हुए समभाव रखे हो और साथ में कोई आदर्श क्रिया नही की तो उसके लिए वह 'सवरदशा' कही जायगी। इसी प्रकार यदि कोई सम-भावना के साथ कोई भी आदर्श क्रिया करे तो वह निर्जराशील कहा जायगा।

आश्रव के कारण:-

'जव तक दुर्गुणो का त्याग नही होगा, तब तक आश्रव नही रुकेगा' इस सिद्धान्त के अनुसार आश्रव के स्वरूप को समझते हुए कुछ एक साधन अथवा क्रियाएँ साधारण रूप से आश्रव स्वरूप हैं, उनका विचार कर लेना चाहिए।

अज्ञान (वास्तविक ज्ञान का अभाव) पाच, अथवा वारह व्रतो का अपालन, पाच प्रमाद, चार कषाय, मन, वचन और काया सवधी कुआदते, राग-द्वेष के आधीन होकर पाचो इन्द्रियो को स्वछन्द कर देना, हास्य, कुविनोद तथा हिंसा आदि ये सव आश्रव के निमित्त कारण हैं। हिंसाजन्य २५

क्रियाएँ भी आश्रव के कारण रूप ही है, इस प्रकार आश्रव के कुल ४२ भेद हैं। (पाच अव्रत, पाच इन्द्रिय-विषय, चार कषाय, तीन अशुभयोग और २५ क्रियाएँ।)

२५ क्रियाओं का वर्णन इस प्रकार है:-

(१) कायिकी क्रिया—अविवेक अथवा दुर्भावना पूर्वक काया—(शरीर) द्वारा होने वाली हिंसा।

(२) अधिकरणिका क्रिया— शस्त्र द्वारा की जाने वाली हिंसा।

(३) प्रादोपिकी क्रिया—क्रोध के कारण उत्पन्न होने वाली हिंसा।

(४) पारितापिनी क्रिया—खुद को अथवा दूसरे को ताप—क्लेश पहुँचाने से उत्पन्न होने वाली हिंसा।

(५) प्राणातिपातिका क्रिया— प्राण दस हैं— पांच इन्द्रियाँ, पांच बलप्राण, मन बलप्राण, वचन बलप्राण, काया बलप्राण, आयुष्य बलप्राण और श्वासोच्छ्वास बलप्राण, जीव के इन प्राणों में से किसी भी प्राण को नष्ट करने अथवा कष्ट देने से उत्पन्न होने वाली हिंसा।

(६) आरम्भिका क्रिया—आरम्भ के कारण होने वाली हिंसा।

(७) परिग्रहिका क्रिया—परिग्रह के कारण होने वाली हिंसा।

(८) मायावत्तिया क्रिया—ठगाई करने से उत्पन्न होने वाली हिंसा।

(९) अप्रत्याख्यान क्रिया—त्याग करने योग्य का त्याग नहीं करने से होने वाली हिंसा।

(१०) मिथ्यादर्शनशल्य क्रिया– अज्ञानरूपी--मिथ्यात्वरूपी शल्य से होने वाली हिंसा।

(११) दृष्टिका क्रिया–द्वेषदृष्टि से अथवा वैरभाव से देखने पर होने वाली हिंसा।

(१२) स्पृष्टिका क्रिया–कोमल अथवा कठोर स्पर्श होने पर पैदा होने वाले विकार अथवा दुर्भावना जनित हिंसा।

(१३) प्रातीतिकी क्रिया–ईर्षा से–पर उन्नति के प्रति असहिष्णुता से उत्पन्न होने वाली हिंसा।

(१४) सामतोपनिका क्रिया–अपनी प्रशसा से अहकार करने पर उत्पन्न होने वाली हिंसा।

(१५) न्यस्तिका क्रिया–जीव अथवा अजीव को फेंकने से लगने वाली हिंसा।

(१६) स्वहस्तिका क्रिया–अपने हाथ द्वारा अथवा अन्य रीति से शिकार द्वारा लगने वाली क्रिया।

(१७) आज्ञापनिका क्रिया–अन्य को आदेश देकर कराई जाने वाली क्रिया।

(१८) विदारणिका क्रिया–जीव आदि को विदारण करने से अथवा अन्य किसी के पाप को प्रकाशित करने से लगने वाली क्रिया।

(१९) अनाभोग प्रत्यया–अकारण ही वस्तुओ को उठाने अथवा रखने मे अविवेकता जाहिर करने से लगने वाली क्रिया।

(२०) अनवकांक्ष प्रत्यया–सिद्धान्त का अनादर करके अपनी अथवा अन्य की जिंदगी को जोखिम में डालने की साहसपूर्वक क्रिया अथवा शास्त्र के ज्ञान का विरोध ।

(२१) प्रेम प्रत्यया–रागमय प्रेम के कारण उत्पन्न होनेवाली क्रिया ।

(२२) द्वेष प्रत्यया–द्वेष जन्य क्रिया ।

(२३) प्रायोगिकी क्रिया–मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति के कारण लगने वाली क्रिया ।

(२४) सामुदायिकी क्रिया–अनेक मनुष्य मिलकर एक साथ कर्मों का बन्धन करें ऐसी क्रिया ।

जैसे कि एक कुटुम्ब दूसरे का अनिष्ट सोचे, बोले अथवा करे, इसी प्रकार समाज अथवा देश को भी समझ लेना चाहिए। ऐसी क्रिया का फल भी प्रत्येक को भोगना ही पड़ता है। जहाज का डूब जाना अनेक मनुष्यों का एक साथ ही दुःखी होना, भूकंप होने पर पृथ्वी में अनेकों का एक साथ घुस जाना इत्यादि संयोगों का कारण ऐसी ही क्रिया का फल है । ये चौवीस क्रियाएँ भयंकर है ।

(२५) ऐर्यापथिकी क्रिया–मार्ग में चलने से होने वाली क्रिया ।

जहाँ तक प्रमाद रहे वहाँ तक यह क्रिया संसार को बढ़ाने वाली है और प्रमाद का नाश हो जाने पर संसार को बढ़ाने वाली नहीं होती है ।

इस प्रकार आश्रव के कारण का मूल अज्ञान है। ज्ञान होने पर उपर्युक्त कितनीक क्रियाएँ तो नही लगती हैं और कुछ एक होती हैं वे पाप अथवा अधर्मरूप नही होती हुई धर्मरूप बन जाती हैं।

भावना आश्रित कर्मबन्धन—

यहाँ शका होती होगी कि अज्ञान के दूर हो जाने पर जो थोडी बहुत क्रियाएँ होती हैं, वे धर्मरूप कैसे बन जाती हैं?

इस सबध मे पहले हेतु दृष्टान्तो से हम देख चुके हैं कि धर्म अधर्म, पाप और पुण्य का वास्तविक कारण अपना मन है। रोग निवारण के लिए ऑपरेशन किया जाय तो वह पाप नही कहा जाता है। इसके विपरीत यदि ऑपरेशन करने वाला समभावी होगा तो उसकी यह क्रिया धर्म ही कही जावेगी। आत्मा के इन पवित्र विचारो के कारण से देहदु ख का विचार करते करते वह कर्मो की निर्जरा भी करेगा।

जब कि शत्रुभावना से किया जाने वाला शस्त्रप्रहार भले ही खाली जावे, तो उस हिसक-मनोवृत्ति वाले को पापबन्धन होगा ही और यदि उसकी आत्मा गभीर वैरभाव मे सलग्न हुई होगी तो वह अधर्म का भागी भी होगा।

इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में समझ लेना चाहिए। इसके उपरान्त जो क्रियाएं व्यक्तिगत, कुटुम्बगत, समाजगत, अथवा देशगत व्यापकरूप से खराब होती है उन क्रियाओ का उल्लेख

यहाँ पर किया जा चुका है। हास्य, कुविनोद से कैसा पाप होता है? इनकी साक्षी पाडव कौरव का युद्ध देता है। द्रौपदीजी के एक ही खराब वचन के कारण दुर्योधन ने भरी सभा में द्रौपदी का अपमान करने का प्रयत्न किया था।

इन्द्रियाँ रूपी घोडो को लगामरहित रखने से, वाणी पर विवेक नही रखने से तथा मन के अनिष्ट विचारो को नहीं रोकने से जो अनर्थ होता है, इस सम्बन्ध मे अपन अनेक दृष्टान्त देख चुके है इसलिए आश्रव को रोकने का प्रयत्न करना ही चाहिए।

संवर तत्त्व

व्याख्या—

आश्रव के निरोध का नाम संवर है अर्थात् आश्रव के प्रकरण मे कहे हुए द्वारो को रोकना ही संवर है। समभाव बनाये रखना ही संवर है। सद्धर्म संवर है, समकित संवर है।

जिस प्रकार किसी एक कुएँ को खाली करना है तो सर्व प्रथम उसके जलस्रोत को बन्द करना पडता है, इसी प्रकार पापों से दूर रहने के लिए, पापो से रहित होने के लिए सर्वप्रथम उनको रोकना पडता है।

चिरकाल से जीव जिन-जिन क्रियाओ को करता है उनको संसार की वासना से करता है। उसे वास्तविक मार्ग का पथिक बनने के लिए वासनाओं का परित्याग करके आत्मा को

स्थिर करना चाहिए। तभी "सत्य क्या है ?" ऐसा वह सोच सकता है और असत्य के पथ का परित्याग करके सत्य को प्राप्त कर सकता है।

ऐसी स्थिरता का उद्देश्य ही निवृत्ति-धर्म है। सामायिक व्रत से इसका प्रारम्भ होकर श्रमणसन्यास व्रत इसका आदर्श बना। इसीलिए यहाँ पर सवर में आश्रव द्वारो को रोकने की बात कहने के अतिरिक्त साधुधर्म के कितने ही अग भी इसके अन्तर्गत किये गये है। वे इस प्रकार हैं –

पाँच समिति, तीन गुप्ति, बाईस परीषह, दश यतिधर्म बारह भावना और पाच चारित्र। असलियत यह है कि ये अग सवरतत्त्व तक ही मर्यादित नही रहते हैं किन्तु ये अग निर्जरा मे भी कारणभूत बन सकते हैं।

पाच समिति और तीन गुप्ति के सवध में पहिले कहा जा चुका है। बाईस परीषह के नाम इस प्रकार हैं:–

(१) भूख, (२) प्यास, (३) ठण्ड, (४) गरमी, (५) डास-मच्छर का त्रास, (६) वस्त्र सबधी परीषह, (७) सयम मे किसी समय उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो सबधी दु ख अथवा अरति, (८) रूप-सौन्दर्य देखकर मोह-उत्पत्ति सबधी दु ख अथवा स्त्री परीषह, (९) सोने का अनुकूल स्थान नही मिलने पर तत्सबधी दुःख, (१०) रहने के लिए अनुकूल स्थान नही मिलने पर तत् संबधी दु ख, (११) पैदल चलने से पाद-विहार करने पर उत्पन्न होने वाले दु ख (१२) कोई खराब शब्द कहे उस सबधी दु ख

(१३)कोई मारे वह दुःख,(१४)भिक्षाचारी के कारण उत्पन्न होने वाला दुःख,(१५) वस्तु की प्राप्ति नही होने पर होने वाला दुःख,(१६)रोग संबंधी दुःख,(१७) तृण-घास आदि की शय्या होने पर शरीर में चुभने से होने वाला दुःख, (१८) शरीर पर मैल होने पर तत् संबंधी दुःख, (१९) निंदा अथवा स्तुति के मौके पर समभावना न रहे, इस संबंधी दुःख (२०) बुद्धि का अहंकार उत्पन्न हो इस संबंधी दुःख (२१) बुद्धि में विकास न हो इसके लिए उत्पन्न होनेवाला दुःख (२२) श्रद्धा के विचलित होने का प्रसंग उत्पन्न होने पर तत्संबंधी दुःख।

स्वीकृत धर्म के मार्ग मे स्थिर रहने के लिए और कर्मों के बन्धन को काटने के लिए ऊपर जिन-जिन दुःखो का, परीषहों का वर्णन किया गया, उनको सरल भाव से सहन कर लेना ही उत्तमा है।

उनके अतिरिक्त १ क्षमा, २ संतोष, ३ सरलता, ४ नम्रता, ५ ब्रह्मचर्य, ६ सत्य, ७ संयम, ८ तप, ९ त्याग, १० अपरिग्रह ये दस यतिधर्म कहे गये है। पहिले धर्म ध्यान मे कही गई चार भावनाओं को अधिक विस्तृत करके बारह भावनाओं में अनुरक्त होना यह भी साधुधर्म है।

ये बारह भावनाएँ इस प्रकार कही गई है— (१) अनित्य भावना, (२)अशरण भावना, (३)संसार भावना, (४)एकत्व भावना,(५)अन्यत्व भावना, (६)अशुचि भावना, (७) आश्रव

भावना, (८)सवर भावना, (९) निर्जरा भावना, (१०)लोक भावना, (११)बोध भावना और (१२) धर्म भावना।

भरत चक्रवर्त्ती 'अन्यत्व भावना' की आराधना करते २ ही केवलज्ञानी हो गये। ये भावनाएँ कर्म-बन्धन को रोकने वाली हैं।

पाँच चारित्रो का वर्णन चारित्राचार में किया जा चुका है।

तात्पर्य यह है कि सावद्य कामो का परित्याग कर देना और अनिवार्य कामो को करना पडे तो समभाव के साथ करने से नये कर्मो का आगमन रुकता है। सवर तत्व का यही सार है।

सवर तत्त्व के आराधन से नये कर्म तो रुक जाते हैं किन्तु आत्मा ने जिन कर्मो का बन्धन पहिले कर लिया है उनका क्या ? इस प्रश्न का विचार करते समय उत्तर में जिस तत्त्व की प्राप्ति हुई वह निर्जरा तत्त्व है। इसके ऊपर अपने को विचार करना है।

निर्जरा तत्व

व्याख्या–

निर्जरा अर्थात् कर्म अलग हो जाना–झर जाना, हट जाना। सवर से नये कर्म रुकते है और निर्जरा में पुराने कर्म पहिले बाधे हुए कर्म अलग होते है। कर्मो से मुक्त होने के लिए निर्जरा की इतनी और ऐसी आवश्यकता है कि इसके बिना मुक्ति कभी भी प्राप्त नही हो सकती है। सवररहित निर्जरा में अज्ञान होने से उसको अकाम निर्जरा कहते है। इसमे कर्म

अलग होते हैं परन्तु नये आकर चिपकते भी हैं। जहाँ तक अज्ञान है वहाँ तक आश्रव (कर्मों का आगमन) रुक नही सकता है इसीलिए निर्जरा के पहिले सवर तत्त्व रक्खा गया है। सवर (कर्मों का आना रुक जाने) के बाद आचरण की जाने वाली निर्जरा सकाम निर्जरा है।

सकाम निर्जरा वाला-आत्मज्ञानपूर्वक कर्मों का क्षय करने वाला होने मे पुन कर्मों के चिपकने की सम्भावना नही रहती।

कारण अथवा मार्ग-

कर्म रोकने के (सवरके) जो कारण कहे गये है, वे केवल संवर के लिए ही कारणभूत हैं, ऐसा नही, वे ही कारण कर्मों का क्षय करने मे (निर्जरामे) भी सहायक होते हैं। इनके सिवाय अन्य मार्गों द्वारा भी कर्मों की निर्जरा हो सकती है। वे इस प्रकार हैं–बाह्य और आभ्यतर तप। दोनो प्रकार के तप निर्जरा के कारण कहे गये है।

बाह्य तप ६ प्रकार का है–१ अनशन, २ उणोदरी, ३ रस-परित्याग, ४ वृत्तिसक्षेप, ५ सलीनता और ६ कायक्लेश।

आतरिक तप भी ६ प्रकार का है–१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्य, (सेवा) ४ स्वाध्याय, ५ कायोत्सर्ग और ६ ध्यान।

तप का वास्तविक अर्थ-

वासना मे उत्पन्न होने वाली इच्छा को रोकना—रोकना ही तप है।

तप की यह वास्तविक प्रणाली विवेक-ज्ञान के विना कभी भी परिपूर्ण नही हो सकती है। इसलिए ज्ञानपूर्वक तप किया जाय, तभी सकाम निर्जरा हो सकती है, नही तो जैसे अन्य साधनो मे धर्म के स्थान पर पुण्य, पाप अथवा अधर्म की सभावना है वैसे ही इसमे भी हो सकती है।

साधन की सिद्धि का आधार–

साधन चाहे जितना उन्नत हो तो भी आखिर मे है तो वह साधन ही। इसलिए साधन को साधन ही मानकर उसका उपयोग करना चाहिये। साधन द्वारा साध्य तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब कि मनोवृत्ति शुद्ध हो।

तप, यह निर्जरा का साधन है किन्तु यदि मनोवृत्ति शुद्ध न हो तो वह तप निर्जरा का साधन नही बन कर आश्रव का निमित्त भी बन सकता है। इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण द्वारा अपन समझने का प्रयत्न करे।

एक कैदी को कमरे मे बन्द कर उसे सारे दिन खाने-पीने न दे और एक ज्ञानी अपने आत्मध्यान मे मग्न होकर सारा दिन बिना अन्न–जल के निकाले, इन दोनो में सामान्यतया अनाहार के कारण तप करना कहा जायगा। बाह्यदृष्टि से दोनो की (नही खाने रूप) क्रिया समान ही है, परन्तु भावना की दृष्टि से दोनो की स्थिति मे आकाश–पाताल का अन्तर है।

इसीलिये के लिए तो सम्पूर्ण स्वतन्त्र होने के कारण से भी वह अविवेकी होकर तो भले कर्मों का बन्धन होगा। यदि ज्ञान से कर्मों का बन्धन रुकता है। इसी प्रकार यदि कोई लोक-व्यवहार के अनुसार करने की उसकी शक्ति के कारण वे न [illegible] करता है, तो उसका [illegible] [illegible] का [illegible] नहीं हो सकता है। यदि उसको विचार नहीं तो दुःखदायी हो सकती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इस लोक के लिए, परलोक के लिए अथवा लौकिक [illegible] की पूर्ति के लिए इस कर्म का आचरण करने से तप [illegible] की शुद्धि नहीं हो सकती। [illegible] तरह से भोग, [illegible] अथवा [illegible] का सेवन करने का [illegible] वह भी अनर्थकर ही है। इसीलिए इस [illegible] से [illegible] की [illegible] का [illegible] दिया हुआ है।

मनस्तत्त्व—

अब हम यहाँ तक पहुँच गये हैं, जहाँ कि कर्म-बन्धन का मूल आधार [illegible] अथवा [illegible] है [illegible] है और इसीलिए मोक्ष का आधार [illegible] की शुद्धि पर अवलम्बित है।

“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः” यह बात [illegible] ठीक है।

कर्म और आत्मा की शक्ति—

कर्म—कर्म जड़ है, शरीर और इन्द्रियाँ भी जड़ हैं। इस

कि चेतन आत्मा अनन्त शक्तिशाली है, तो फिर अनन्त शक्ति-शाली आत्मा के ऊपर इन जड तत्त्वो का जोर कैसे चलता है?

उत्तर–कर्म अर्थात् जीव के साथ चिपके हुए पुद्गल, यह अर्थ लिया जाय तो वह जीव कर्मवाला हुआ। कर्मवाले जीव की अनन्त शक्ति भले ही सत्ता रूप (अस्तित्वरूप) हो, किन्तु वह प्रकट रूप मे नही है, इसीलिए कर्मों की शक्ति उसके ऊपर प्रभाव डाल सकती है।

द्रव्यकर्म और भावकर्म–

कर्म को केवल जड ही नही कहा जा सकता है, वे जीव के साथ मोह की चिकनाहट के कारण चिपके हुए है। जीव मोहग्रस्त हुआ, यही कर्म को आमत्रण देने की स्थिति हुई, इसी का नाम भावकर्म है और भाव कर्म के बल पर ही पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ सबन्धित हुए इसका नाम द्रव्यकर्म है इसीलिए कर्म को अन्य पुद्गलो के समान केवल जड ही नही कहा जा सकता है। उनमे भावकर्म का सम्बन्ध तो सीधा मोहवशात् जीव के साथ ही है, इसीलिए उसकी सत्ता चलती है

जीव और पुद्गलों का सम्बन्ध कैसे हुआ–

जीव और पुद्गल दोनो परस्पर मे भिन्न-भिन्न धर्म वाले है; दोनो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, दोनो मे से किसी भी एक का अस्तित्व नष्ट हो जाय ऐसा होने का नही। ऐसा होने पर भी दोनो का सगम कैसे हुआ ? यह आश्चर्य की बात है। मोह के वश से हुआ अथवा अज्ञान के कारण से हुआ, ऐसा माना जाता है

परन्तु यह मोह न तो जीव का मूल स्वभाव है और न पुद्गल का मूल स्वभाव है, तो फिर यह आया कहाँ से ? और कब आया ? इसका कोई उत्तर नही है। बुद्धि द्वारा यह नही जाना जा सकता है। सर्व प्रथम इसके उत्तर की भी आवश्यकता नही है। श्रद्धा द्वारा इतना स्वीकार कर लिया जाय कि ससारी जीव मोहवशात् ही ससार मे परिभ्रमण करता है यही स्थिति यथार्थ है, इसमे कब ? और कैसे ? का उत्तर भले ही नहीं मिले, किन्तु मोह से ससारी आत्मा आवृत्त है, आत्मा की यह विभाव-दशा है और इसमे से मुक्त होना चाहे तो हो सकता है, ऐसी शक्ति वाला और स्वभाव वाला आत्मा है।

इतनी स्वीकृति के बाद मोक्ष के कारण और बन्ध के कारण जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है और ऐसी जिज्ञासा की उत्पत्ति के साथ ही नव-तत्त्वो के ज्ञान का इतिहास आरम्भ होता है। इनमें से सात तत्त्वो का विचार तो आपन कर चुके हैं, अब तो "जीव का किस प्रकार कर्म-बन्धन होता है ?" इसी बात का यहाँ पर मुख्य रूप से विचार करना है। आत्मा के बन्धन की चर्चा को "कर्म का तत्त्वज्ञान" भी कहा जा सकता है। इस तत्त्वज्ञान के ऊपर ही जैन-दर्शन का मुख्य आधार है।

कर्मवाद का सिद्धान्त—

जैन तत्त्वज्ञान और ईश्वर--

जैन तत्त्वज्ञान में ईश्वर को स्थान है। ईश्वर कर्त्तृत्ववाद

को स्थान नही है। अर्थात् जैन ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहं मानते है, ईश्वर तो निरजन, निराकार और सच्चिदानन्द रूप है।

ईश्वरवाद का आधार--

ईश्वरवाद अर्थात् इस सृष्टि का कर्त्ता अथवा व्यवस्थापक ईश्वर है ऐसी मान्यता।

जैसे घर, समाज अथवा देश की व्यवस्था चलाने के लिए किसी नेता की आवश्यकता हुआ करती है। दुकान अथवा व्यवसाय मे व्यवस्थापक की आवश्यकता हुआ करती है, उसी प्रकार नियमित और व्यवस्थित रीति से गति करनेवाली इस सृष्टि की व्यवस्था का भी कोई शक्तिशाली नायक अथवा व्यवस्थापक अवश्यमेव होना चाहिये। दूसरी बात यह जैसे कि घट-पट आदि पदार्थों का बनाने वाला हम अपनी आँखो से देखते है वैसे ही इस चराचर जगत् का भी रचयिता कोई अवश्य होना चाहिए और जो रचयिता है, वही ईश्वर है।

इन दो तर्कों के आधार पर ही जगत्-कर्त्तृत्ववाद की मान्यता अपना अस्तित्व रखती है।

जैन तत्त्वज्ञान क्या कहता है?

जैन तत्त्वज्ञान कहता है कि--

(१) ईश्वर का अर्थ वीतराग लिया जाय तो वीतराग के साथ सृष्टि रचने रूप जजाल का सबंध नही बैठता है। रागी के साथ ही यह सब जम सकता है और यदि रागी को ही ईश्वर मान लिया जाय तो उसे "ईश्वर" कैसे कहा जाय? जिसके

राग का क्षय हुआ वही ईश्वर है, इस रीति से ईश्वर होने का प्रत्येक आत्मा को अधिकार है। सत्ता की दृष्टि से जीवमात्र ईश्वर ही है। जैसे सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश बादलो द्वारा ढंक जाता है, वैसे ही आत्मा का प्रकाश भी अज्ञानरूपी आवरण से ढका हुआ है और आत्मा को इन आवरणो को तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२) इस प्रश्न की मीमासा करते हुए जैन-दर्शन कहता है कि" जगत् नियमित और व्यवस्थित चलता है इसका कारण वस्तु का स्वभाव है, वस्तु के स्वभाव अनुसार काम हुआ ही करता है।"

इस प्रकार विवेचन करके वह कर्मवाद का बयान करता है और कहता है कि –

ईश्वर (कर्त्तृत्व) वाद मानने की आवश्यकता नही है, किन्तु कर्मवाद मानने की आवश्यकता है। शुभकर्म करेगा तो उसका फल शुभ मिलेगा और अशुभकर्म करेगा तो उसका फल अशुभ मिलेगा। शुभाशुभ के फल मे विमोहित नही होते हुए यदि आत्मा मूलस्वभाव की ओर प्रगति करेगा तो अन्त मे ईश्वर होगा। कर्म-रहित होकर निर्मल होकर, सिद्ध होगा। ऐसे अनेक सिद्ध हो गये हैं, होते है और होगे, इसलिये सत्यमार्ग पर पुरुषार्थ करो और कर्म के बधनो को काटो। भगवद्-गीता के पाचवे अध्याय का १४ वा और १५ वा श्लोक भी ऊपर के सिद्धान्त का ही समर्थन करते है।

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥१४॥

ईश्वर लोगो के कर्त्तापन, कर्मों और कर्मों के फल के सयोग की रचना नही करता, किन्तु स्वभाव से ही यह सब बनता रहता है ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं, न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ईश्वर (परमात्मा) न किसीका पाप लेता है, न पुण्य। ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पडा है, इससे जीव मोहित हो रहे हैं १५

क्या ईश्वरवाद व्यर्थ है ?

स्याद्वाद को मानने वाला जैनदर्शन किसी भी दृष्टि को एकान्त झूठ तो कभी कहता ही नही है, वह इनको विभिन्न श्रेणियो की योग्यता की अपेक्षा से योग्य स्थल पर सभी मतो को योग्य स्थान प्रदान करेगा। स्याद्वाद दृष्टि अर्थात् अपेक्षावाद। प्रत्येक वस्तु में विभिन्न दृष्टि के कारण विभिन्न गुण दोष रहे हुए हैं और दृष्टिभेद से वे सब सत्य है। एक ही वस्तु किसी एक दृष्टि से उपयोगी है तो किसी दूसरी दृष्टि से वह अनुपयोगी भी हो सकती है, अर्थात् सभी विभिन्न दृष्टिकोणो से किसी एक वस्तु का एक साथ अवलोकन करना इसी का नाम स्याद्वाद दृष्टि अथवा अपेक्षावाद है। जैनदर्शन अपने इस मौलिक सिद्धान्त द्वारा विभिन्न अनेक दर्शनो की मान्यताओ के बीच मे होने वाले

सघर्ष को शात करता है, और वास्तविक वस्तु–स्थिति की स्थापना करता है ।

इस दृष्टिकोण से ईश्वरवाद भी निरुपयोगी तो नही कहा जा सकता है, जो आत्माएँ सामान्य भूमिका से आगे प्रगति करती हुई आत्म-विकास के लिये प्रयत्न करती है, उनके लियें ईश्वर का आलबन सर्वप्रथम सरल उपाय है, आत्मा के परिपूर्ण विकास की साधना करके परम ध्येय को प्राप्त महात्मा पुरुषो के जीवन का आदर्श मुमुक्षुओ के लिए सहायक होता है, इस रीति मे ईश्वरवाद व्यर्थ नही है । किन्तु जिन्होने कुछ प्रगति की है, ऐसे पुरुषो के लिये केवल ईश्वरवाद से कुछ नही होने का, उनको तो अपने मे रहे हुए ईश्वरत्व को (आत्मधर्म को) याने परम-तत्त्व को पहिचानना होगा। यही कर्मवाद का तत्त्वज्ञान पचेगा । इस भूमिका के पश्चात् जैनदर्शन का आरभ होता है, इसीलिए यहाँ कर्मवाद के तत्त्वज्ञान का विवेचन किया गया है ।

ईश्वर के बिना भी कर्मफल की प्राप्ति कैसे होती है ?

अज्ञानी जीव कर्म का अनुसरण करता है, इस बात को स्वीकार कर लेने पर भी फल कैसे प्रदान करता है ? यह प्रश्न उत्पन्न होगा ही । इसका समाधान ऐसा है कि मनुष्य जहर पीता है, उस जहर को पीने वाले के प्रति जहर का द्वेष नही है जहर तो कर्मों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न जडरूप है तो भी वह पीनेवाला तो मरता ही है, इसका कारण जहर का स्वभाव है, यही बात कर्म के लिये भी समझ लेना चाहिए ।

लोहे का टुकडा चुम्बक की ओर आकर्षित होता है दोनो जड हैं चैतन्यरहित हे फिर भी आकर्षित होते हे। उसक कारण दोनो का उसी प्रकार का स्वभाव है। इसी तरह से " जो जैसे कर्म करता है, उसको उनका प्रतिफल स्वयमेव प्राप्त हो जाता है।" यह वस्तु-सिद्धान्त सत्य है।

जैसे पागल मनुष्य अग्नि के स्तम्भ से चिपट कर "जलत हूँ" की चिल्लाहट करता है, किन्तु स्तम्भ से चिपटना नहीं छोडता है और जहाँ तक नही छोडता है" वहाँ तक अग्नि अपने स्वभाव का परिपालन करती रहती है अर्थात् उसको जलाती रहती है। उसी प्रकार अज्ञान जीव का पागलपन है। जीव कर्मो से स्वतत्र होने की इच्छा रखता है किन्तु वास्तविक मार्ग के लिए प्रयत्न नही करता है, और कर्मो को बाधता रहता है, ऐसी स्थिति मे उसको वैसे फल भोगने ही पडते हे।

आश्रव और बंध—

जैसे चिकनाहट पर सूखे रजकण आ-आ कर चिपकते हैं, वैसे ही मोह की चिकनाहट के कारण पुद्‌गल चिपकते हे। "पुद्‌गलो का आना" इसी का नाम आश्रव है। मोह के वश मे होने पर कर्मो का बन्धन होने का नाम बन्ध है। इस प्रकार बन्धतत्त्व को अलग माना है।

कर्मबन्ध के प्रकार–

१ प्रकृति, २ स्थिति, ३ अनुभव और प्रदेश ये चार भेद कर्मबन्ध के हैं। इनकी व्याख्या निम्न प्रकार है–

(१) प्रकृति अर्थात् स्वभाव। आत्मा के साथ चिपककर कर्म पुद्गलो में जो ज्ञान को आवृत्त करने का, दर्शन को आवृत्त करने का, सुख-दुःख का अनुभव कराने का आदि-आदि स्वभाव निश्चित होता है वह 'प्रकृतिबन्ध' कहा जाता है।

(२) स्थिति अर्थात् कालमर्यादा। स्वभाव निश्चित होने के बाद वह जितने समय तक आत्मा के साथ टिक कर रहे, उस काल मर्यादा को 'स्थितिबन्ध' कहा जाता है।

(३) अनुभव अर्थात रस। प्रकृतिबन्ध होने के बाद वह मन्द, तीव्र आदि फल का जैसा अनुभव कराता है वही अनुभागबन्ध' अथवा 'रसबन्ध' कहा जाता है।

(४) प्रदेशबन्ध—बधे हुए कर्म पुद्गलो का विभिन्न स्वभाव अनुसार अमुक-अमुक परिमाण में विभाजित हो जाना इसी का नाम 'प्रदेशबन्ध' है।

कर्म के भेद—

कर्म मूल तो एक ही है परन्तु अध्यवसाय अर्थात् इच्छाओ की विचित्रता के कारण कर्मों के स्वभावो का निश्चय होता है और ये स्वभाव आत्मा के ऊपर अपना-अपना भिन्न २ प्रभाव पहुँचाते हैं, ऐसे प्रभाव कई प्रकार के है, इसी प्रकार ऐसे प्रभाव उत्पन्न करने वाले स्वभाव भी अनेक प्रकार के होते हैं, यह स्वाभाविक ही है। फिर भी इन स्वभावो का विभाजन करके इन सभी को आठ भाग मे विभाजित कर दिया है, इनको 'प्रकृतिबन्ध' कहा जाता है। वे आठ प्रकृति भेद इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय।

आठ कर्मों के लक्षण–

(१) जिसके द्वारा आत्मा का ज्ञान गुण आच्छादित हो जाय, वह कर्म 'ज्ञानावरणीय' है।

(२) जिसके द्वारा दर्शन अथवा सामान्य ज्ञान आच्छादित हो जाय, वह कर्म 'दर्शनावरणीय' है।

(३) जिसके द्वारा सुख दुख का अनुभव हो अथवा इष्ट अनिष्ट का सयोग प्राप्त हो, वह कर्म 'वेदनीय' है।

(४) जिसके द्वारा आत्मा मोहग्रसित हो अथवा विषय-कषाय, राग-द्वेष की प्राप्ति करावे, वह कर्म 'मोहनीय' है।

(५) जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न भव धारण करने पडे, वह कर्म 'आयुष्य' है।

(६) जिसके द्वारा आत्मा को ऊँच नीच गति प्राप्ति हो अथवा एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय आदि रूप जाति की प्राप्ति हो और जो जीव को शरीर आदि की प्राप्ति करावे, वह 'नामकर्म' है।

(७) जिसके द्वारा उच्च गुणो अथवा नीच गुणो का सयोग आत्मा के लिए प्राप्त हो, वह 'गोत्रकर्म' है।

(८) जिसके कारण से आत्मा की वीर्य शक्ति अथवा लेने देने की शक्ति सकुचित हो, उस कर्म का नाम 'अन्तराय' है।

आठ कर्मों के दृष्टांत–

१) जिस प्रकार बादल सूर्य को ढाक देते हैं, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानसूर्य को ज्ञानावरणीय कर्म ढाक देता है। (२) जैसे राजा की कचहरी में जाते समय द्वारपाल रोक देता है और राजा से भेंट नही की जा सकती है, वैसे ही आत्मा रूपी राजा की भेंट को दर्शनावरणीय द्वारपाल रोकता है। आँख के होने पर भी आँख पर-पट्टी बांध देने से दिखाई नही देता है, उसी प्रकार शक्ति के होने पर भी दर्शनावरणीय कर्म के कारण से आत्मा की शक्ति के प्रति श्रद्धा नही होती है। (३) वेदनीय के दो भेद है-(१) साता वेदनीय और (२) असाता वेदनीय। तलवार की धार पर लगा हुआ शहद चाटने पर मीठा लगता है परन्तु सावधानी नही रक्खी जाय तो जीभ कट जाती है। इसी रीति से साता-वेदनीय समझ लेना चाहिये। इस शरीर द्वारा अनुभव किये जाने वाले सुख के अथवा हर्ष के प्रसगो में आत्मा असावधान रहे तो दण्डनीय होती है।

असातावेदनीय तो शक्कर के समान सफेद पत्थर जैसा ही है, जिसमें मधुरता नही है। ज्ञानी इस अवस्था मे विशेष दुख नही मानता हुआ विवेकपूर्वक शान्ति के साथ असाता-वेदनीयजनित दुखो को सहन कर लेता है।

(४) मोहनीय शराब जैसा है। जैसे शराब मनुष्य के विवेक को भुला देता है, इसी प्रकार मोहनीय आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्रगुण को आच्छादित कर देता है।

(५) आयु लोहे की बेडी के समान है, जहाँ तक इससे छुटकारा नही मिले वहाँ तक मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती।

(६) जैसे चित्रकार विभिन्न चित्रो की रचना करता है, वैसे ही नाम कर्म के आधार से ही आत्मा पुद्गलो द्वारा शरीर की रचना करता है, पाचो प्रकार के शरीरो की रचना का आधार यही कर्म है।

(७) कुम्भकार जैसे मिट्टी में से छोटे बडे आकारों की रचना करता, वैसे ही गोत्र कर्म उच्च अथवा नीच का भेद उत्पन्न करता है।

(८) दान—दाता जैसे किसी याचक को देना चाहता है किन्तु भडारी रोक देता है, वैसे ही आत्मा अपनी शक्ति मे परिवर्तन चाहता है, परन्तु अन्तराय कर्म के कारण से शरीरधारी जीव के उपयोग मे वह नही आती है। जैसे बीमार मनुष्य के पास भोजन तैयार है, परन्तु वैद्य खाने की आज्ञा नही देता। उसी रीति से इस कर्म को समझना चाहिये।

(२) स्थिति बंध–

इन आठ कर्मों का आत्मा के साथ बधन होने के बाद आत्मा के साथ इनकी कम से कम समय की सगति जघन्य स्थिति कहलाती है और अधिक से अधिक समय की सगति उत्कृष्ट स्थिति कहलाती है। निम्न कोष्टक द्वारा इसका ज्ञान हो सकेगा। मोहनीय आठो कर्मों का राजा है, इसकी स्थिति सब से अधिक है।

नाम कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१ ज्ञानावरणीय	अन्तर्मुहूर्त्त	३० कोडाकोडी सागरोपम
२ दर्शनावरणीय	,,	,,
३ वेदनीय	बारह मुहूर्त्त	,,
४ मोहनीय	अन्तर्मुहूर्त्त	७० ,,
५ आयुष्य	,,	३३ सागरोपम
६ नाम	आठ मुहूर्त्त	२० कोडाकोडी सागरोपम
७ गोत्र	,,	,,
८ अन्तराय	अन्तर्मुहूर्त्त	३० ,,

(३) अनुभव बन्ध--

जैसे किसी मिठाई में घी अधिक होता है तो किसी में कम होता है, वैसे ही कर्मकर्त्ता कोई जी़ा कम शक्ति वाला होता है, तो कोई अधिक शक्ति वाला होता है, इसी प्रकार कोई-कोई एक ही जीव-आत्मा-अमुक काम मे और अमुक स्थान पर कम शक्ति वाला होता है, जब कि किसी अन्य काम मे और अन्य स्थान पर अधिक शक्ति वाला होता है, तदनुसार वही पद्धति फल देने की शक्ति के सबध मे भी है। जैसे चिकने परमाणु समान चिकनाहट वाले परमाणुओ के साथ नही चिपकते हैं, किन्तु चिकनाहट की मात्रा कम अथवा अधिक परिमाण मे होने पर चिपक जाते हैं उसी प्रकार आत्मा में मोह की चिकनाहट यदि बढती है तो कमप्रदेश भी अधिक चिपकते हे और वह अधिक मात्रा वाली चिकनाहट आत्मा के गुणो पर अपना प्रभाव डालती है, यही

कारण है कि मोह की अधिक चिकनाहट वाला अर्थात् अधिक आसक्ति वाला जीव कर्मों से भारी बनता है और जन्म-मरण के भवचक्र मे घूमता है।

जब आत्मा से सबधित कर्मों का फल-अनुभव बन्ध अनुसार और स्थिति बन्ध अनुसार भोग लिया जाता है, तब वे कर्म आत्म-प्रदेशो से मुक्त हो जाते है, इसी का नाम कर्मों की निर्जरा है, । फल भोगने के बाद कर्मों की निर्जरा स्वयमेव हो जाती है, इसी प्रकार तप द्वारा भी कर्म फल देने के पूर्व ही आत्म-प्रदेशो से अलग हो सकते हैं।

प्रदेश बन्ध–

प्रदेश अर्थात् क्या ? यह द्रव्य के प्रकरण मे कहा जा चुका है । प्रदेश अर्थात् इतना सूक्ष्म अश, कि जिसके अन्य अंशो की कल्पना बुद्धि द्वारा नही हो सकती है, ऐसे कर्म पुद्गलो के प्रदेशो का आत्मा के साथ आकर दूध-पानी के समान मिल जाना ही प्रदेश बंध कहलाता है।

इतने विवेचन द्वारा समझ में आ गया होगा कि बन्ध का याने आश्रव का मुख्य आधार आसक्ति ही है। स्थिति और अनुभव बन्ध का सम्पूर्ण आधार कषाय पर है, कारण कि राग-द्वेष और क्रोध आदि कषायो की सूक्ष्मता और परिमाण पर ही स्थिति बन्ध और अनुभाव बन्ध की न्यूनाधिकता रही हुई है, इसी प्रकार प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का आधार योग की शुभाशुभवृत्ति से सम्बन्धित है।

एक रीति से शुभयोग और अशुभयोग आश्रव का कारण है तो दूसरी रीति से आत्मा की कषायमय स्थिति बन्ध का कारण है ऐसा कहा जा सकता है।

आठ कर्म का विस्तार

(१) ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियां:-

ज्ञान पाँच है-मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल। इन पाचो पर आवरण होता है इसलिए ज्ञानावरणीय के पाँच भेद हो जाते है, वे निम्न प्रकार है-

(१) मति अर्थात् आत्मानुलक्षी बुद्धि का विकास, ऐसे विकास को रोकने वाला कर्म' मतिज्ञानावरणीय' है।

(२) श्रुत अर्थात् सच्चा शास्त्रज्ञान। ऐसे ज्ञान को जो नहीं होने दे, वह 'श्रुतज्ञानावरणीय' है।

(३) अवधि अर्थात् मूर्त्त पदार्थों का आत्मानुलक्षी ज्ञान, उसको नही होने दे वह 'अवधिज्ञानावरणीय' है।

(४) मन पर्यायज्ञान-सज्ञी जीवो के मन के भावो को जानने वाला ज्ञान, ऐसे ज्ञान को जो कर्म नही होने दे, वह 'मन पर्यायज्ञानावरणीय' है

(५) केवलज्ञान-सपूर्ण ज्ञान, इसको जो प्रकट नही होने दे, वह' केवलज्ञानावरणीय' कर्म है।

इनमे से प्रथम तीन सम्यक्त्वी आत्मा मे हो सकते है। चौथा ज्ञान अन्तरग साधुता वाले सयमी पुरुष को ही हो सकता है, एव केवलज्ञान वीतरागी ही प्राप्त कर सकता है।

(२) दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतियां:-

(१) नेत्र द्वारा होने वाले सामान्य बोध को जो कर्म आच्छादित करे, वह 'चक्षुदर्शनावरणीय' है।

(२) नेत्र के सिवाय शेष इन्द्रियो और मन द्वारा होने वाले सामान्य बोध को जो ढाके, वह 'अचक्षुदर्शनावरणीय, है।

(३) दूर रहे हुए रूपी पदार्थो को इन्द्रियो की बिना सहायता के ही जाननेवाला जो सामान्य बोध है ऐसे बोध को जो कर्म ढाक दे वह 'अवधिदर्शनावरणीय' कर्म है।

(४) केवल लब्धिद्वारा होने वाले सामान्य बोध को जो कर्म ढाक दे वह 'केवलदर्शनावरणीय' कर्म है।

इनके सिवाय (५) निद्रा (ऊंघना), ६)निद्रानिद्रा (बार बार ऊघना),(७)प्रचला (बैठे बैठे ऊघना),(८) प्रचला प्रचला (चलते चलते ऊघना)और (९)स्त्यानगृद्धि (ऊघ अवस्था मे ही कोई कार्य करने पर भी ऊघ नही उडना) इस प्रकार इन पाँचो निद्राओ के मिलाने पर दर्शनावरणीय कर्म के नव भेद होते हैं।

(३) वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां-

(१)सातावेदनीय और (२) असातावेदनीय।

(४) मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियां-

मोहनीय के दो काम है। (१) आत्मा के सम्यक्त्व का घात करे वह दर्शनमोहनीय है और (२) चारित्र गुण का जो नाश करे वह चारित्र मोहनीय है। दर्शनमोहनीय के ३ और

चारित्रमोहनीय के २५ (१६ कषाय चारित्रमोहनोय और ९ नो कषाय चारित्रमोहनीय) इस प्रकार कुल २८ भेद गुणस्थानक के प्रकरण में लिखे गये हैं।

(५) आयुष्य कर्म की चार प्रकृतियां–

आयुष्य कर्म के उदय से १ देव, २ मनुष्य, ३ तिर्यञ्च, और ४ नरकगति मे यथावधि आयुष्य पूरा करना पडता है।

नामकर्म की ४२ अथवा ९३ प्रकृतियां:–

नामकर्म की ४२ प्रकृतियाँ है। १४ पिंड प्रकृतियाँ–

(१) सुख-दु ख को अनुभव कराने योग्य देव आदि चार गतियो को प्राप्त कराने वाला कर्म गति नामकर्म है, इसके चार भेद हैं।

(२) एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक की जाति का अनुभव कराने वाला-कर्म जाति नामकर्म है, इसके ५ भेद हैं।

(३) औदारिक आदि शरीरो को प्राप्त कराने वाला कर्म शरीर नामकर्म है, इसके पाँच भेद हैं।

(४) शरीरगत अंग उपांग का निमित्त बनने वाला कर्म अंगोपांग नामकर्म है, इसके ३ भेद हैं।

(५) पहिले प्राप्त किये हुए शरीर पुद्गलो के साथ अन्य पुद्गलो का सबंध जुडाने वाला बन्धन नामकर्म है, इसके ५ भेद हैं।

(६) बाँधे हुए पुद्गलो को शरीरानुसार आकार में संयोजित करने वाला संघात नामकर्म है, इसके ५ भेद है।

(७) शरीर की हड्डियो के बन्धनो की विशिष्ट रचना करने वाला संहनन नामकर्म है, इसके ६ भेद है।

(८) शरीर की विभिन्न आकृतियो का जो कर्म निमित्त रूप है, वह संस्थान नामकर्म है और इसके ६ भेद हैं।

(९) शरीरगत पाच वर्णों (काला, नीला, लाल, पीला और सफेद) का जो नियामक है, वह वर्ण नामकर्म है और उसके ५ भेद हैं।

(१०) शरीरगत दो गंध (सुगंध और दुर्गंध) का नियामक गंध नामकर्म है और इसके २ भेद हैं।

(११) शरीरगत ५ रस (कडुआ, कसायला, तीखा, खट्टा और मीठा) का नियामक रस नामकर्म है, और इसके ५ भेद हैं।

(१२) शरीरगत ८ स्पर्श (हलका, भारी, ठंढा, गरम, रूक्ष, चिकना, खरदरा, मुलायम) का नियामक स्पर्श नाम कर्म है और इसके ८ भेद है।

(१३) नवीन जन्म ग्रहण करने वाले जीव को आकाश-प्रदेश की श्रेणी अनुसार गमन कराने वाले कर्म का नाम आनुपूर्वी नामकर्म है। उसके ४ प्रकार है।

(१४) अच्छी अथवा बुरी चाल का नियामक कर्म विहायोगति है और इसके २ भेद है।

१५ से २४ त्रस दशक (१ त्रस, २ बादर, ३ पर्याप्त, ४ प्रत्येक, ५ स्थिर, ६ शुभ , ७ सुस्वर, ८ सुभग, ९ आदेश, १०

यशोकीर्ति) नामकर्म है ।

२५ से ३४ स्थावर दशक (१ स्थावर, २ सूक्ष्म, ३ अपर्याप्त, ४ साधारण, ५ अस्थिर, ६ अशुभ, ७ दुस्वर, ८ दुर्भग, ९ अनादेय, १० अयशोकीर्ति नामकर्म हैं ।

३५ से ४२ तक आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ हैं—१ अगुरुलघु, २ उपघात, ३ पराघात, ४ श्वासोच्छ्वास, ५ आतापनाम, ६ उद्योत, ७ निर्माण और ८ तीर्थङ्कर नामकर्म ।

उपरोक्त १४ पिण्ड प्रकृतियो के अवान्तर भेद ६५ होते हैं। इनके साथ त्रस दशक, स्थावर दशक, और आठ प्रत्येक प्रकृतियो के मिलाने पर नामकर्म की कुल ९३ प्रकृतियाँ होती हैं।

(७) गोत्र कर्म—

गोत्रकर्म की दो प्रकृतियाँ हैं, (१) उच्चगोत्र और (२) नीच गोत्र ।

(८) अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ —

(१) दान देने में अन्तराय देनेवाला कर्म दानातराय है ।

(२) लाभ मे विघ्न उपस्थित करनेवाला कर्म लाभातराय है ।

(३) भोग की सामग्री होने पर भी जिसके कारण से उसे नही भोग सके, उसका अच्छा उपयोग नही किया जा सके वह भोगातराय कर्म है ।

(४) उपभोग की सामग्रियो का सदुपयोग जिसके कारण से नही किया जा सके, वह उपभोगातराय कर्म है ।

(५) जो आत्म-शांति का उपयोग नही होने दे, वह वीर्यान्तराय कर्म है।

ये कर्म किन कारणों से बंधते है और कैसे छूटते है ?

मूल कारण तो यह है कि ये कर्म आत्मभान भूलने से और मोहग्रस्त होने से बन्धते हैं। इसके विशेष कारण निम्न प्रकार है—

(१) ज्ञानी और ज्ञान के साधनो मे बाधा पहुँचाने से ज्ञानावरणीय कर्म बँधते हैं। बाधा नही पहुँचाने पर इसका बन्धन नही होता है तथा ज्ञान-साधनो मे अन्य को सहायता देने से पूर्व मे बन्धे हुए ज्ञानावरणीय कर्म छूट जाते हैं।

(२) यही बात दर्शनावरणीय कर्म के सम्बन्ध मे भी है। इस सम्बन्ध मे ज्ञानाचार और दर्शनाचार में विस्तारपूर्वक कहा गया है।

(३) वेदनीय—

सातावेदनीय और असातावेदनीय का पुण्य, पाप एवं अशुभध्यान से बन्धन होता है। सवर से रुकता है, निर्जरा से दूर होता है, सातावेदनीय की साधनरूप में आवश्यकता है। तीर्थङ्करो के भी सातावेदनीय कर्म है।

(४) मोहनीय कर्म का मोह से बन्धन होता है। आठो कर्मों का यह मूल है, यह सवर से रुकता है और पूर्वकाल में बधा हुआ यह कर्म चारित्र द्वारा निर्बल होता है।

इसके लिए चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का

पालन किया जाना चाहिए—

(५) **आयुकर्म**—

(१) बहुत परिग्रह, बहुत आरम्भ और महती हिंसा तथा महान् खराब आदतो (मद्य-मासाहर आदि) से नरक के आयुष्य का बन्धन होता है।

(२) कपट, धोखा, स्वार्थ, छल, अधिक नफाखोरी, अधिक ब्याजखोरी आदि से तिर्यञ्च के आयुष्य का बन्धन होता है।

(३) देवो मे सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी दोनो प्रकार के होते हैं। सम्यक् तप, सम्यक् त्याग और सम्यक् सयम में कुछ मोह-भावनाओ के उत्पन्न होने पर उच्च देवगति की प्राप्ति होती है।

दान, किंचित् त्याग और परोपकार करते समय कुछ लौकिक भावनाएँ आ जाने पर मध्यम देवगति की प्राप्ति होती है।

परतन्त्ररूप से अथवा अन्धानुकरण रूप से कुछ-कुछ शुभ कार्य करने से सामान्य देवगति की प्राप्ति होती है।

(४) स्वाभाविक सरलता, स्वाभाविक नम्रता, न्याय, दया, उदारता, सत्य प्रियता, परोपकार, अल्प परिग्रह मे सतोप आदि गुणो द्वारा मनुष्य गति की प्राप्ति होती है।

इन चारो गतियो को रोकने में ज्ञान मदद करता है और चारित्र द्वारा ये दूर होती हैं। मनुष्यशरीर द्वारा ही चारित्र का

परिपालन किया जा सकता है । अतएव मनुष्यभव प्राप्त करके मोक्ष के मार्ग को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किया जाना चाहिये।

(६) नामकर्म–काया, वचन और भाव की सरलता से शुभ नामकर्म का बधन होता है, तथा कपट, मायाचार आदि द्वारा अशुभ नामकर्म बधता है । शुभाशुभ से दूर होने के लिये समभाव पूर्वक प्रयत्न करना चाहिये ।

(७) गोत्रकर्म–अभिमान करने से नीचगोत्र और नम्रता से उच्चगोत्र का बध पडता है, समभाव से रुकता है एव चारित्र से कर्मबन्धन निर्बल होता है ।

(८) अतरायकर्म–दान, लाभ, भोग, उपभोग और पुरुषार्थ मे बाधा डालने से, शक्ति होने पर भी पुरुषार्थ नही करने से, शक्ति का अनिष्ट मार्ग मे उपयोग करने से, योग्य मार्ग में शक्ति का उपयोग नही करने से, अतरायकर्म का बन्धन होता है, सवर से कर्मबध रुकता है और चारित्र से क्षीण होता है ।

घाती अघाती कर्मः–

(१) आत्मा की शक्तियो का जो घात करते हैं, वे घाती कर्म कहे जाते है, वे चार हैं–(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय। इन चारो का मुख्य आधार मोह ऊपर ही है। मोह का नाश होते ही इन चारो ही कर्मो का नाश हो जाता है।

(२) शेष चार अघातीकर्म है, ये आत्मा को आधारभूत हानि पहुँचानेवाले नही हैं। शरीर के साथ सम्बन्ध रखने वाले

हैं, घातीकर्म नाश होने पर देह-आयु के क्षय के साथ ये चारो ही अघातीकर्म क्षीण हो जाते है।

जो एक मोह को जीतता है, वह सभी को जीत लेता है।

मोक्षतत्त्वः—

मोक्ष अर्थात् कर्मों से मुक्त होना। सभी वासनाओ से छूटना यही मोक्ष है। मोहनीय आदि चारो कर्मों के सपूर्ण क्षय होने पर केवलज्ञान और वीतरागभाव प्रकट होता है किन्तु उस समय मे वेदनीय आदि चार अघातीकर्म अत्यन्त सामान्य अवस्था में रह जाने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नही होती है। जिस समय सम्पूर्ण कर्म क्षीण होते है, उसी समय जन्म—मरण का चक्र बन्द हो जाता है। यही मोक्ष है।

जैसे पानी मे डूबा हुआ तुवा लेप छूटने पर पानी की सतह पर तैरता हुआ आ जाता है, वैसे ही कर्मों से मोक्ष—प्राप्त आत्मा भी अपने मूलस्वरूप को/प्राप्त कर लोक के सर्वोच्च भाग पर पहुँच जाता है, यही ऊँचा भाग 'मोक्ष' अथवा 'सिद्ध शिला' कहा जाता है।

सिद्धगति कैसी है ?

वहाँ पर शरीर नही है, कर्म नही है, बुढापा नही है, मरण नही है, निराकार निरजन केवलज्ञानमय स्वरूप है, अक्षय आनदमय स्वरूप है।

सिद्धगति प्राप्ति के पश्चात् क्या ?

सिद्धगति प्राप्त करने के पश्चात् अन्य कुछ भी प्राप्त करना

शेष नही रहता है। वहाँ जाने के पश्चात् ससार में पुन आने का काम भी नही रहता है। यह मोक्ष पहिले भी था, आज भी है और भविष्य मे भो रहेगा ही। भूतकाल मे भी अनन्त सिद्ध हुए, वर्त्तमानकाल मे भी होते है और भविष्यकाल मे भी होगे। इसलिये कर्मों से मुक्त होने के लिये-आत्मशुद्धि के लिये-प्रयत्नशील होना चाहिये।

मोक्ष किसको प्राप्त होता है ?

स्त्री को, पुरुष को, साधु को, गृहस्थ को, अपने आप धर्म-तत्त्व के ज्ञाता को, गुरुद्वारा प्रतिपादित धर्म मार्गानुसार काम करने वालो को, चाडाल को, क्षत्रिय को, ब्राह्मण को, वैश्य को, याने सभी प्रकार के पुरुषो को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

मोक्ष प्राप्त करने के लिए जाति के, वर्ण के, देश के, अथवा मत-मतान्तर के किसी भी प्रकार के वाडे वाधक नही हो सकते हैं। केवल पात्रता और प्रयत्न आवश्यक है, जो पात्र तत्त्व को पचावे, वही उसको प्राप्त कर सकता है।

मोक्ष प्राप्त करने की पात्रता:-

मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी मनुष्य तो होना ही चाहिये, क्योकि अन्य गति मे चारित्र का पालन परिपूर्ण रीति से नही हो सकता है।

शरीर मजबूत होना चाहिये। मजबूत दने बिना इस मार्ग र नही जाया जा सकता है ।

शुक्लध्यान होना आवश्यक है, इसके बिना आत्म-रमणता रूप याने स्थितप्रज्ञता उच्च विकास की प्राप्ति नही हो सकती है। धर्म-ध्यान की आराधना करते हुए शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है और इसके द्वारा उच्चकोटि पर पहुच जाता है, एव तत्पश्चात् मुक्तावस्था प्राप्त होती है ।

क्षायिक सम्यक्त्व होना आवश्यक है। इस सबध मे विशेष वर्णन गुणस्थान-प्रकरण मे किया जायगा । चारित्र निर्दोष होना चाहिए अर्थात् आत्मा अपने मूलस्वभाव मे रमण करती रहनी चाहिये । वर्ण-आतरिक और बाह्यरूप से उज्ज्वल होना चाहिये। मनुष्य में भी कर्मक्षेत्र की भूमि का मनुष्य होना चाहिये । ऐसा मनुष्य ही नवतत्त्वो का ज्ञाता होकर आदरणीय का आदर करे और त्यागने योग्य का त्याग करे, तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।



कथा–विभाग

सती चन्दनबाला



पिता मरा, माता मरी, दासी बन बेचाय,
पर रक्खा दृढ धर्म को, रंच न चित्त चलाय।
तीन दिवस भूखी रही, मिले वीर भगवान्,
कीर्ति बढी, वैभव बढा, पाया पद निर्वाण॥

ऊँटनी-सवार कौशाम्बी नगरी मे आ पहुँचा। उसने वसुमती को ऊँटनी से नीचे उतारा और बाजार में खडा कर दिया। झुण्ड के झुण्ड लोग वहाँ आये। वसुमती का रूप देख-कर मोल करने लगे–'इस कन्या का मोल क्या है ?' सवार माँग देख कर महँगा होता गया।

यह वसुमती कौन थी ? उसकी पिछली कथा सुनो।

चम्पा-नगरी के राजा दधिवाहन की वह लडकी थी।

उसकी माता का नाम धारिणी था। माता-पिता ने पढा-लिखा कर उसे होशियार बनाया था। राजा शतानीक फौज लेकर चढ आया। आमने-सामने लडाई हुई। अन्त मे दधिवाहन मारा गया। शत्रु के हाथ मे न पड़ने के विचार से

धारिणी और वसुमती भाग खड़ी हुई। रास्ते में माँ बेटी को कौशाम्बी का एक ऊँटनी सवार दिखाई दिया। सवार की नीयत बिगड़ी। अपने शील की रक्षा करने के लिए माता ने प्राण दे दिये। देह तो फिर मिल जाता है मगर शील एक बार नष्ट हो जाता है तो फिर नहीं मिलता।

बिना माता की अकेली कन्या चीखें मार-मार कर रोने लगी। बारह वर्ष की उसकी उम्र थी, लेकिन समझदार थी। आखिर भगवान् पर भरोसा रखकर उसने अपना मन शान्त किया। ऊँटनी सवार धारिणी की मृत्यु से सहम गया था। वह सोचने लगा—इस लड़की का क्या करूँ? अन्त में उसे सूझा कि कौशाम्बी के बाजार में ले जाकर इसे बेच देना ही उचित है और इस प्रकार वह बेचने के लिए बाजार में खड़ा हुआ। कहाँ राजा की गुणवन्ती कुमारी और कहाँ सरे बाजार बिकने वाली अनाथ दासी! कर्म की गति को कौन समझ सकता है? 'करम-गति टारी नाहिं टरे।'

सौभाग्य से कौशाम्बी के धनावाह सेठ उसी रास्ते आ निकले। वसुमती पर उसकी नजर पड़ी। सेठजी सोचने लगे—कन्या किसी ऊँचे कुल की और संस्कारी है। कौन जाने, किसी लम्पट के हाथ पड़ जाय! बेहतर है कि मैं ही इसे खरीद लूँ। सेठजी के कोई बाल बच्चा नहीं था। उन्होंने मुँह माँगे दाम देकर वसुमती को खरीद लिया। वसुमती की तकदीर इतनी तो सुधरी!

धनावाह सेठने अपनी स्त्री मूला से कहा–'इसे अपनी बेटी समझ कर रखना।' सेठानी प्रसन्न हुई। सेठ-सेठानी दोनो वसुमती पर स्नेह रखने लगे। वसुमती आनन्द के साथ अपने दिन बिताने लगी। धीरे-धीरे वह अपने माँ-बाप के अभाव को भूलने लगी। मगर इतने में तो कर्म ने फिर उछाल मारना शुरू किया। वसुमती पर सेठ का स्नेह दिनो-दिन बढता जाता था। वसुमती चन्दन जैसे शीतल और मीठे वचन बोलती थी। इसीलिए सेठ उसे 'चन्दनबाला' कहकर पुकारता था।

चन्दनबाला अब चौदह वर्ष पूरे करके पन्द्रहवें वर्ष में प्रवेश कर चुकी थी। उसके अग अग में जवानी की छटा फूट रही थी। वह देखकर मूला कभी–कभी सोचने लगती--'सेठजी अभी तो इसे लडकी की भाँति रखते है, मगर किसी समय इसके साथ विवाह कर बैठे तो? तब तो मेरी जिन्दगी मिट्टी में मिल जायगी।' इस प्रकार की आशका मे सेठानी डूबी रहती। कभी कभी ईर्षा की आग उसे सुलगा देती थी। इसी समय आग मे घी होमने के समान एक प्रसग बना गया।

सेठ बाहर से आये थे। पैर धूल से भरे थे। नौकर कोई मौजूद नही था। विनयी चन्दनबाला स्वय पानी लेकर दौडी और सेठ के पैर धोने लगी। उस समय उसकी चोटी छूट गई चन्दनबाला के लम्बे-लम्बे और भौंरा जैसे काले बाल कीचड से न भर जाएँ, इस विचार से सेठ ने अपनी छडी से बाल ऊपर कर लिये। चन्दना जब खडी हुई तो स्नेह से उसकी चोटी

बांध दी ।

चन्दना की चोटी बांधते सेठ को मूला ने, ऊपर छज्जे से देख लिया। फिर तो पूछना ही क्या था ! उसकी आशका पक्की हो गई । अगर उसने सेठ से उसी समय पूछ लिया होता या पूरी घटना देख ली होती तो सेठानी को वहम न होता । किन्तु जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि । वहमी मनुष्य विचार नही कर सकता ।

बेचारी निर्दोष चन्दना अब सेठानी के दिल मे चुभने लगी । वह सोचने लगी—'इस विघ्न का जल्दी ही सफाया कर डालना चाहिए । अन्यथा यह मेरी सौत होकर जम जायगी । तो क्या इसे जहर पिलाकर मार डालूं ? नही, ऐसा नही । मार डालने की अपेक्षा कुरूप बना देना ठीक होगा । ऐसा करने से सेठ इसे चाहेगा ही नही ।' इस प्रकार विचार करके और एक दिन मौका देखकर उसने चन्दना को बुलाया । उसे खरी-खोटी सुनाई । सिर मूंड दिया । पैरो में बेडियां पहना दी । फिर अन्तिम कोठरी में उसे ले गई । खूब भीतरी मार-मारी और कोठरी मे बद कर दी । इतना सब करके सेठानी अपने मायके चल दी ।

तीन दिन बीत गये । चन्दना को न अन्न मिला, न पानी मिला । उसका गला सूख गया था । शरीर क्षीण हो गया था । मौत ताक रही थी । मगर ऐसी दुर्दशा के समय भी उसके मुंह मे हाय-हाय नही थी । नमस्कार मत्र का वह जाप कर रही थी । आ ! कितना भीषण कष्ट ! कितना घोर

झूठा कलक ! फिर भी मुला सेठानी पर उसे तनिक भी रोष नही, जरा भी द्वेष नही ! ऐसी चन्दना को लाखो धन्यवाद !

धनावाह सेठ वाहर गाँव से लौटकर आये । वहुत-ढूंढ-खोज करने पर चन्दना का पता चल गया । उसकी दशा देखकर सेठ की आँखो से आसुओ की धारा वह निकली ।

यह सव मूला सेठानी की करतूत है, यह जानकर सेठ के क्रोध का पार न रहा । चन्दना कहने लगी— 'पिताजी ! दोष माताजी का नही है । उनका तो वहुत उपकार है । दोष मेरे कर्मों का है । आप माताजी को कुछ न कहे !'

सेठ वोले—'धन्य है वेटी ! पर तेरे लिए खाने को तो ले आऊँ !'

सेठजी खाना लेने दौडे । पर उन्हे ढोरो के लिये तैयार किये हुए और सूप मे रक्खे हुए उडद के वाकले के सिवाय कुछ मिला नही । सेठ सूप उठाकर लाये और चन्दना के पास रख दिया । इसके वाद वेडियाँ काटने के लिये वे लुहार को वुलाने दौडे ।

चन्दना का एक पैर देहली पर है और दूसरा वाहर है । वैठी-वैठी वह सोचती है कि ऐसे समय पर कोई अतिथि-सन आ जाएँ तो कितना अच्छा हो ! चन्दना इस दुख में और ऐसी भूख मे भी अतिथि सत को नही भूली !

इतने में ही एक सत उस ओर पधारे । उन्होने निश्चय किया है कि—'कोई सती और राजकुमारी दासी की तरह रही

हो, उसका मस्तक मुँडा हो, पैर में बेडी पहने हो, भूखी हो और सूप में उडद के बाकले पडे हो, वह रोती हो, उसी के हाथ से मै भिक्षा लूंगा।' कितना कठोर निश्चय है! बहुत दिनो से यह निश्चय पूरा नही हो रहा है और सत उपवासी हैं। कौशाम्बी के राजा-रानी और नगर-निवासी इसी चिन्ता मे हैं कि किसी तरह इस सत-महात्मा का पारणा हो जाय!

यही सत आज चन्दनबाला के पास पधारे। चन्दनबाला के हर्ष का पार नही रहा। हैं तो बाकले मगर आज आहारदान देने का लाभ मिलेगा। चन्दनबाला ऐसा सोच ही रही थी कि सत देखकर लौट पडे। उनके निश्चय के अनुसार और तो सभी था, सिर्फ आँख में आँसू नही थे।

संत को लौटते देख चन्दनबाला ने सोचा—मै कैसी अभागिनी हूँ कि आगन मे आये सत भिक्षा बिना लिए ही लौट गये! और चन्दनबाला रो पडी।

रोने की आवाज सुनकर सत ने मुंह फेर कर देखा। चन्दनबाला की आँखो मे उन्हे आँसू दिखाई दिये। अब उनका निश्चय पूरा हो गया। सत वापिस लौट आये। चन्दनबाला ने भक्ति के साथ उडद के बाकलो का दान दिया।

भिक्षा लेनेवाले सत कौन थे? दूसरे नही, स्वय भगवान् महावीर थे।

उसी समय देवो ने दिव्य फूलो आदि की वर्षा की। बेडियाँ टूट गईं। मस्तक पर जैसी की तैसी चोटी हो गई।

सेठजी लुहार को बुलाकर लाये। पर अब लुहार की क्या आवश्यकता थी ?

चन्दना को पहले जैसी देखकर सेठजी बहुत प्रसन्न हुए। सारे नगर मे चर्चा फैल गई। मूला सेठानी भी आई। वह खराब वर्ताव करने के लिए पछताने लगी। उसने चन्दनबाला से माफी माँगी। मगर चन्दनबाला ने कहा—'माँ! तुमने ऐसा न किया होता तो भगवान् को आहार-दान देने का सौभाग्य कैसे मिलता ? अहा कितनी क्षमा !'

चन्दनबाला को देखने के लिए नगर के लोगो का मेला लग गया। कौशाम्बी के राजा-रानी भी आये। रानी ने पहचान निकाली। पहले की वसुमती और आज की चन्दनबाला उसकी बहिनोती होती थी। कौशाम्बी की रानी चन्दनबाला की मौसी लगती थी।

मौसी चन्दनबाला को अपने महल मे ले गई। अब चन्दनबाला को रहने के लिए मजे का महल मिल गया। घूमने के लिए सुन्दर बगीचा था और खाने के लिए भाति-भाति के भोजन थे। दास-दासियाँ सेवा के लिए हाजिर! पर चन्दन-बाला धनावाह सेठ का उपकार नही भूली और उसका ध्यान भगवान् से हटता नही। इसे कहते है आदर्श कन्या!

'महाप्रभु महावीर की सेवा मे रहने को मिल जाय तो कितना सौभाग्य!' हमेशा उसकी भावना ऐसी ही बनी रहती है। वह प्रभु महावीर से प्रार्थना भी करती है। मगर भगवान्

तो अपने ही ध्यान मे मग्न रहते है । केवलज्ञान होने से पहले न देना उपदेश और नही बनाना चेला–चेली ! यह महावीर स्वामी का निश्चय है । चन्दनबाला राह देख रही है कि कब भगवान् मुझे दीक्षा दे !

आखिर चन्दनबाला की भावना फली । भगवान् महा–वीर को केवलज्ञान हुआ । उन्होने उपदेश देना आरम्भ किया । बहुत–बहुत लोग आते । पशु भी आते । जो उपदेश के अनुसार आचरण करने लगे उनका सघ बन गया । सघ को तीर्थ भी कहते हैं ।

तीर्थ चार हैं—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका ।

सबसे पहले चन्दनबाला साध्वी हुई । वे ३६००० साध्वियो मे अग्रगण्य बनी ।

चन्दनबाला ने जैसे सयम लिया उसी तरह सुन्दर रूप से पाला । आगे जाकर उन्होने मोक्ष प्राप्त किया ।

जीवन भर कुँवारी रहकर ब्रह्मचर्य का पालन किया । अनेक दुखो मे से, अनेक कसौटियाँ पर कसी जाकर वह खरी सिद्ध हुई ।

धन्य है सती चन्दनबाला !

ऐसी वीरागनाएँ ही जैन समाज को उज्ज्वल कर सकती हैं ।



सती द्रौपदी

(१)



पति पाच पाकर भी पतिव्रत धर्म को धारण किया,
तज भीरुता जिसने सभा मे धर्म उच्चारण किया।
तेरह विताये वर्ष वन में कष्ट सह पति-संग में।
साध्वी बनी फिर राज्य तज, ममता न रक्खी अग में।

कपिलपुरी के राजा द्रुपद के दो सतान है—एक लडका ओर एक लडकी। लड़के का नाम है धृष्टद्युम्न और लडकी का नाम द्रौपदी।

राजा लडकी को वहुत प्यार करता है। दौपद्री अव ज़वान हो गई है। उमके रूप का क्या कहना! उसकी वाणी का क्या कहना! उमकी चतुरता भी गजब की है! कई जगह से दौपदी की माँग आई है, पर अच्छा पति खोज निकालने के अभिप्राय से राजा ने स्वयवर रचा है।

स्वयवर मे देश-देश के राजा आये है। द्रुपद राजा की शर्त है—'जो राधावेध करे वही द्रौपदी को वरे।'

सजा हुआ मडप है। वीचो-वीच एक रत्नो से जडा हुआ खभा खडा है। उसके दाहिनी ओर और वाई ओर चार-चार चक्र घूम रहे है। ऊपर ही ऊपर रत्नो की एक पुतली

रक्खी है। नीचे एक धनुष रक्खा हुआ है। मुंह नीचा करके, घूमते हुए चक्रो में से उस पुतली को वेध देना राधावेध कहलाता है।

मथुरा का राजा उठा। विराट देश के राजा ने भी उठकर बहुत मिहनत की। मगर वे कुछ भी न कर सके। नदापुर का राजा शल्य अपनी शेखी बघारने लगा—'मैं क्या नहीं कर सकता? देखो, मैं राधावेध करता हूँ।' मगर उसकी शेखी धूल में मिल गई। बेचारे शिशुपाल राजा के तो घुटने ही टूट गये। दुर्योधन माथा खुजाता-खुजाता वापिस लौटा। और कर्ण भी हताश हो गया।

यह देखकर द्रुपद राजा ने कहा—'अरे! इतने सारे राजा इकट्ठे हुए हैं, पर मेरा प्रण कोई भी पूरा नही कर सकता? स्वयवर खाली जायगा तो मेरी हँसी होगी, परन्तु दुनियाँ में तो तुम सबो की बेइज्जती होगी।'

इतने मे एक नौजवान चमक उठा। उनका नाम था अर्जुन। वह द्रोण गुरु का प्यारा और प्रथम शिष्य था। युधिष्ठिर और भीम का छोटा भाई था। सहदेव और नकुल का बडा भाई और पाण्डु राजा का पुत्र था। कुन्तीदेवी का लाडला लाल था। उसने देखते ही देखते सावधान होकर धनुष उठाया और राधावेध कर दिया। अर्जुन के जय-जय-कार से सभा-मण्डप गूंज उठा।

(२)

पंचालराज द्रुपद की पुत्री अथवा पाचाली (द्रौपदी) ने अर्जुन के गले मे माला डाली। मगर कौतुक यह हुआ कि जैसी माला अर्जुन के गले मे पडी थी, वैसी ही माला उनके चारो छोटे-वडे भाइयो के गले में भी दिखाई दी। यह विचित्र बात देखकर सारी सभा को अचरज हुआ। द्रुपद दुविधा मे पड गये।

उसी समय एक ज्ञानी पुरुष पधारे। उन्होने खुलासा किया कि द्रौपदी ने अपने पहले भव में ऐसा निदान (नियाणा) किया है। उसी निदान के कारण इस समय ऐसा हुआ। यह पाँचो पाडव भाई-भाई हैं। पवित्र वृत्ति वाले हैं। परस्पर प्रेम वाले है। द्रौपदी इन पाँचो की सेवा करेगी। यह पाँचो की प्रीति को जोडने वाली साकल वनेगी। यह पाँचो की पत्नी कहलाएगी। लेकिन इन पाँचो की वह इस प्रकार सेवा करेगी जिससे उसके सतीपन मे कोई वाधा न आए। पाँचाली के सयम और चारित्र की छाप पाँचो पतियो पर पडेगी। इसलिए किसी को किसी भी तरह की शका नही करनी चाहिए।

इतना कहकर ज्ञानी पुरुष अपने रास्ते चले गये। द्रौपदी पाँच पतियो की सती स्त्री वनी। वह सुखपूर्वक अपना समय विताने लगी।

इसी बीच एक विपदा आ पडी। द्रौपदी के स्वयवर मे हारा हुआ कर्ण जल-भुन रहा था। पाँडवो की चढती देखकर दुर्योधन की आँखो से भी आग वरस रही थी। उसे मामा शकुनि

की सहायता मिल गई। युधिष्ठिर को बुलाकर जुआ खिलाया। जुआ एक बडी बुराई है। उसकी लत पड़ जाना और भी बुरा है।

युधिष्ठिर जुए मे फँस गये। धर्म को भूल गये राज-पाट धन-भण्डार सभी कुछ हार बैठे। पर हारा जुआरी दुगुना खेलता है। युधिष्ठिर ने अपने भाइयो को दाव पर रख दिया और अन्त में अपने आपको भी रख दिया।

'हे द्रौपदी!' कहकर युधिष्ठिर ने पासा फेंका। युधिष्ठिर ने सोचा तो यह कि हारा हुआ सब कुछ वापिस ले लुं, मगर हुआ उलटा ही। वे द्रौपदी से भी हाथ धो बैठे।

सती द्रौपदी

(२)

कचहरी सभासदो से खचाखच भरी है। भीष्म पितामह जैसे वडे बूढे भी बैठे हैं। द्रोण गुरु भी मौजूद हैं। समर्थ कृपाचार्य साक्षी हैं। पिता के समान धृतराष्ट्र भी उपस्थित हैं। रजस्वलादशा मे द्रौपदी को दूत सभा में ले आता है।

कर्ण दाँत पीसता है। दुर्योधन हुक्म देता है। दुश्शासन कहता है—'यह वस्त्र उतार और दासी के कपडे पहन!'

कहाँ महारानी द्रौपदी और कहाँ भरी सभा में यह घोर अपमान! ज्यो ही दुश्शासन सती के शरीर को हाथ लगाता है, ज्यो ही सती का तेज झलक उठता है।

भीम खड़ा हो जाता है। युधिष्ठिर कहता है—'भैया भीम, इस समय हम लोग पराधीन हैं।' यह कहकर उसे रोकते है।

द्रौपदी तटक कर कहती है—'खबरदार ! मेरे पांच पतियो के सिवाय किसी ने हाथ लगाया तो उसकी खैर नही ! गुरुजनो ! न्यायनीति के ज्ञाताओ ! प्रथम तो मैं स्त्री और फिर रजस्वला ! आप सब के सामने यह दुश्शासन क्या कर रहा है ? तुम्हारा बडप्पन कहाँ चला गया है ?

अरे वीरो ! तुम्हारी वीरता कहाँ चली गई ? मेरे पति पराधीन है, पर तुम लोगो को पराई बहिन-बेटी की आबरू जाती देखकर भी लाज नही आती ? शरमाओ ! जरा तो शरमाओ !'

द्रौपदी की यह ललकार सुनकर सब के मुह लटक गये। द्रौपदी धर्मराज युधिष्ठिर के सामने देखकर कहती है—'देव ! आप और सब तो भूल गये ! आपने भाईयो को भी दांव पर चढ़ा दिया ! पत्नी को दांव पर चढाते हुए भी आपको विचार नही आया ? मैं तो आर्य स्त्री हूँ। यह भी सह लूंगी।' इसके बाद द्रौपदी ने द्रोण और भीष्म की तरफ उन्मुख होकर कहा—'महापुरुषो ! और सब तो खैर ठीक है, मगर मै आप से पूछती हूँ—युधिष्ठिर जब जुए मे स्वय अपने को हार चुके तो वे मुझे दांव पर किस प्रकार चढ़ा सकते है ?

द्रौपदी के इन वचनो को सुनकर सभा विचार मे पड गई ।

विदुर मौका पाकर कहने लगे—'शाबाश ! बेटी शाबाश धन्य है तेरी बुद्धि को ! वास्तव मे द्रौपदी का कथन नीतियुक्त है । नीतिवेत्ताओ ! द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर दो ।'

सभा मे सन्नाटा छा गया । इतने मे दुर्योधन बोला—'यह नीति तो युधिष्ठिर को विचारनी थी । हम द्रौपदी को जीत चुके है ।' कर्ण ने हाँ मे हाँ मिलाते हुए कहा—'ठीक है, दुर्योधन का कहना ठीक है ।'

दुश्शासन को शह मिल गई । उसने सती द्रौपदी का चीर पकडा । भीम की भुजाएँ फडकने लगी । अर्जुन की आखो से लोहू बरसने लगा । युधिष्ठिर सिर पर हाथ देकर नीचे की तरफ देखने लगे ।

ऐसे समय भगवान् के सिवाय और कौन बेली है ? सती बोली—'शासनदेव ! अगर मैने मन, वचन और काया से पति-व्रत की आराधना की हो तो मेरी लाज रखना !'

पतिव्रत की महिमा अपार है ।

वस्त्र खीचते-खीचते दुश्शासन थक गया । मगर चीर का कही अन्त ही नही आता था ।

सती की लाज रह गई । सभा मे जय-जयकार हुआ ।

सती द्रौपदी इस कसौटी पर खरी उतरी ।

इसके वाद भी सती पर अनेक सकट आये। पूरे वारह वर्ष तक पति ने वनवास किया। सती बराबर उनके साथ ही रही।

एक वर्ष के अज्ञात-वास मे भी पति के साथ रही। विराट नगर की रानी के पास सैरध्री नामक दासी बनकर रही। रानी के भाई कीचक ने वहाँ भी द्रौपदी को सताने मे कसर नही रक्खी। पर इस वीरागना सती ने प्राणो की परवाह न करके अपने शील की रक्षा की।

वहुत से कष्ट सहन करके पाण्डव प्रकट हुए। अव दुर्योधन को इनका राज्य इन्हे सौप देना चाहिए था। पर उसे तो रावण की तरह राज्य-मद चढा था!

श्रीकृष्ण वासुदेव खुद आये और उन्होने दुर्योधन को समझाया। विदुर ने कहा-'अरे पाँच गाँव तो पाण्डवो को दे।' मगर दुर्योधन नही माना, नही माना।

कुरु क्षेत्र मे युद्ध छिडा। लाखो आदमियो का खून वहा। अन्त मे पाण्डवो की जीत हुई। द्रौपदी फिर महारानी वनी। लेकिन सती के मन मे आया-इस रूप की वदौलत न जाने कितने ही नष्ट-भ्रष्ट हुए और इस राज्य के खातिर कितना नरसहार हुआ! किस काम का है यह रूप? किस मतलव का है यह राज्य?

इस विचार से चित्त मे वैराग्य जाग उठा। सती त्यागी वनी। इनके सव पतियो ने इन्ही का मार्ग पकडा। भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षा ग्रहण की और सभी ने आत्मा का कल्याण किया।

वन्दन हो शील की रक्षा करने वाली द्रौपदी को !
वन्दन हो विद्या और बुद्धि की भण्डार द्रौपदी को !
वन्दन हो पति की सेवा में परायण द्रौपदी को !
वन्दन हो साध्वी–शिरोमणि महासती द्रौपदी को !



सती दमयन्ती

(१)

बल-रूप-गुण के धाम नल भूपेश से ब्याही गई,
पर द्यूत में नलराज की सपत्ति हाय चली गई।
पति-सग वन में भी रही पर त्याग पति ने कर दिया,
पाला सती ने शील-संयम धर्म करके दृढ़ हिया।
हो धन्य दमयन्ती सती, हो वन्दनीय सदैव ही,
संयम लिया तज राज-वैभव भव-जलधि में ना वही।

सती दमयती का नाम तो तुमने सुना ही होगा। कुण्डिनपुर के राजा भीमरथ की वह कन्या थी। अयोध्या के राजा निषधराज के पुत्र नल ने स्वयवर मे उसे वरण किया था।

नल और कुबेर दोनो भाई थे। नल बड और कुबेर छोटा भाई था।

नल रूपवान् तो थे ही, वीर भी थे। बहत्तर कलाओ मे कुशल थे। रसिक थे। गुणी थे।

पिता ने नल को राजगद्दी सौंप दी। नल जैसे बडे थे, वैसे ही योग्य भी थे। राजगद्दी की शोभा बढाने लायक थे।

नल के बाद का अधिकार कुबेर को सौंप कर राजा साधु हो गया।

नल अब राजा हो गए। दमयन्ती महारानी हुई। वह सती स्त्री है। दमयन्ती राजा नल की परछाई की तरह अनुसरण करती थी। दोनो में इतना गाढा स्नेह है कि दूसरे गृहस्थो को यह जोडी देखकर डाह होती है।

मनुष्य मे कोई न कोई ऐब होता ही है मगर ऐब अगर छोटा होता है तो किसी बडे गुण के कारण वह छिपा रहता है या दूर हो जाता है।

नल मे भी एक ऐब था और वह बडा ऐब था। उस ऐब का नाम है जुआ। जुआरी झूठा हो जाता है। उसमे चोरी करने का दुर्गुण भी घुस जाता है। वह कुसगति मे पड कर भक्ष्य-अभक्ष्य का भान भूल जाता है और फिर बडे-बडे पाप करने लगता है इस कारण ज्ञानी पुरुप कहते हैं—जुआ एक बडा भारी कुव्यसन है। झगडा बढाने वाला है। बर्बादी करने वाला है। जीते जी आबरू को मिट्टी मे मिला देता है और मरने के बाद नरक मे ले जाता है।

कभी-कभी मौका पाकर दमयन्ती अपने पति को यह सब बातें समझाती थी। मगर गहराई तक पहुँचे हुए इस कुव्यसन को नल छोड नही पाता था।

एक बार छोटे भाई कुबेर के साथ जुआ खेलते-खेलते नल राजपाट हार बैठा। कुबेर को डर लगा कि भाई यहाँ मौजूद रहेगे तो प्रजा मुझे राजा नही मानेगी।

यह सोचकर कुबेर ने कहा-भाई साहब! राज्य अब मेरा है। मेरे राज्य की हद मे आप न रहे तो अच्छा है।

नल ने कहा-लो, यह चला! तू मजे से राज्य कर।

नल ने जो कपडे पहन रक्खे थे, उन्ही कपडो के साथ नल चल दिये। दमयन्ती को खबर लगी कि पतिदेव की यह हालत हुई है! भिखारी की तरह जा रहे हैं। आखिर वह भी साथ हो गई। नल की छाया नल के बिना कैसे रहती? स्त्री की परख ऐसे ही हालत मे होती है। नल ने दमयन्ती को बहुत रोका, मगर दमयन्ती अनुनय-विनय करके पति के पीछे-पीछे चलने लगी।

दोनो जने दूर से दूर जा रहे हैं। वे चलते ही जा रहे हैं। वे राज्य की हद लाँघ गये। अब इस अनजान जगह में कौन उन्हे पहचानता है? मगर पेट से छुटकारा कैसे मिल सकता है? इस गडहे को भरने के लिए कपडे बेचे, दमयन्ती के आभूषण बेचे। पर कितने दिनो तक काम चलता? अब उनके पास तन ढँकने को सिर्फ एक-एक ही कपडा बाकी रह गया।

कहाँ निषध का राज्य और कहाँ भूख का यह राज्य? कहाँ सुन्दर वस्त्र और कहाँ तन ढँकने के लिए पहना हुआ मैला-कुचैला कपड़ा!

समय की बलिहारी है । कर्म के कटुक बीज बोने में तो मजा आता है पर फल चखते समय नानी याद आ जाती है ।

ऐसी हालत मे पडे नल और दमयन्ती घूमते-फिरते जगल मे जा पहुँचे । जगल में रास्ता भूल गये । रास्ता खोजते है, पर मिलता नही । इतने में साँझ हो जाती है । घोर अन्धकार फैल जाता है । अन्त मे किसी पेड़ के नीचे घास-पात बिछाकर दोनो सो जाते हैं ।

कही चीते की आवाज सुनाई देती है तो कही सिह की गर्जना सुन पडती है । कभी नौला क्री-क्री करता हुआ दौडधाम मचा रहा है तो कभी अजगर पाससे निकलता है । ऐसी भयानक जगह मे नल-दमयन्ती लेटे है । थकावट जगह थोडे ही देखती है । इसलिए दमयन्ती पति के भरोसे खुर्राटे लेकर सोती है ।

पर नल को अभी नीद नही आई । वह दमयन्ती की तरफ देखकर सोचने लगे--मेरे खातिर यह सती कितनी कष्ट भुगत रही है ? इस तरह सोचते-सोचते नल की आंखो से आसू बहने लगे । विचार आया--दो जने साथ रहते हैं तो दो के पेट की चिन्ता करनी पडती है मै अकेला चल दूं तो ?

भूखा आदमी कौन-सा पाप नही कर बैठता ? ऐसे कठिन मौके पर नल अकेला भाग जाने का इरादा कर रहा है ! उसकी मनोदशा तो देखो !

नल फिर सोचता है--दमयन्ती को इस भयानक जगल में

अकेली छोडकर जाने को क्रूरता करना क्या उचित है ? नही, ऐसा नही हो सकता ।

मगर नल की यह दया देर तक नही टिकी । नल उठता है । धूल में कुछ लिखता है और दमयन्ती को पता न चले, इस प्रकार चुपके से चल देता है ।

नल तत्काल दूर और बहुत दूर निकल जाता है ।

सती दमयन्ती

(२)

इधर सती दमयन्ती सपना देखती है । सपने में वह डर जाती है । वह चौंक कर कुछ बोलती है, मगर अब सुनने वाला कौन था ? पतिदेव तो नौ दो ग्यारह हो चुके थे । उत्तर न पाकर दमयन्ती 'पतिदेव' 'पतिदेव' कहकर हाथो से टटोलती है । मगर पति कहाँ ? निवटने गये होगे, यह सोचकर वह अन्धेरी रातमे आवाज देती है । उत्तर में वाघ की चीसकी ध्वनि सुनाई देती है।

नाथ ! इतने कठोर कैसे हो गये ? हँसी करते होओ तो बस करो । बोलो कहाँ हो ? इस प्रकार बडबडाती हुई दमयन्ती ने रात पूरी की । प्रभात हुआ । आसपास में बहुत खोजा । मगर नल वहाँ होते तो मिलते । आह ! पुरुषो की कठोरताके कारण सती स्त्रियो पर कैसी बीतती है ?

दमयन्ती रोती-रोती थक गई । वह परमात्मा का स्मरण करने लगी । तब उसके मन को कुछ शान्ति मिली । अचानक

उस तरफ नजर पहुँची जहाँ जमीन पर कुछ अक्षर लिखे थे। वहाँ इस प्रकार लिखा था—

'देवी ! तुम्हे सख्त आघात लगेगा मगर मै निर्दय होकर जा रहा हूँ। तुम कुण्डिनपुर चली जाना। मेरी चिन्ता मत करना। मेरे हृदय मे तुम बसी हो। समय आने पर अवश्य मिलेगे।'

नल भले ही निर्दय हो गये मगर सती दमयन्ती अपने प्रियतम को नही भूलती।

वन में चलते-चलते एक सार्थवाह मिला। दमयती उसके साथ हो गई और किसी नगर मे जा पहुँची। वह एक तालाब के किनारे बैठी थी। इतने मे वहाँ की रानी की दासी आई और उसने दमयती को देखा। उसे दया आई। रानी की आज्ञा लेकर वह दासी दमयती को राजमहल मे ले गई। दमयती वही रहने लगी। रानी चन्द्रयशा दमयन्ती की मौसी लगती थी। पर दयमन्ती को यह बात मालूम नही थी। दमयन्ती बहुत ही विनयशीला थी। उसके ऊपर सभी को प्रेम उमडता था। विनय से वैरी भी वश मे हो जाते हैं। धीरे-धीरे सारा नगर दमयन्ती को पहचानने लगा।

कुछ दिनो के बाद राजा ऋतुपर्ण ने दमयन्ती को अपनी देखरेख का काम सौंपा। दमयन्ती भलीभाँति उसे सभालने लगी। वह कैदियो से भी मुलाकात करती और उन्हे अच्छा

उपदेश देती थी। वह उनसे चोरी वगैरह के दोषों का त्याग करवाती थी। वह रोगियो की भी सेवा किया करती थी ऐसी बाई को भला कौन नही चाहता ? समस्त प्रजा के हृदय मे उसने अपना स्थान बना लिया।

नल और दमयन्ती जगल में कही निकल गये है, यह समाचार भीमनाथ को मालूम हुए। उसने चारो ओर दूत भेजे। एक दूत खोजता-खोजता वहाँ आया। दूत ने दमयन्ती को पहचान लिया। तब चन्द्रयशा को पता चला कि दमयन्ती मेरी वहिन की बेटी है। फिर किस बात की कमी थी ? आखिर दमयन्ती के माता-पिता भी वहाँ आ गये। ऋतुपर्ण और चन्द्रयशा ने सेवा करने में कसर नही रक्खी। थोडे दिनो के बाद अपनी प्रिय पुत्री दमयन्ती को माता-पिता साथ ले गये। दमयन्ती को किसी चीज की कमी नही है। फिर भी उसके दिल में नल की ही लगन लग रही है।

नल, दमयन्ती से जब अलग हुआ तो उसे एक बार साँप ने काट खाया। मानो सती को जगल मे अकेली छोड देने का बदला उसे मिल गया! साँप के काटने से नल बच गया, मगर कुबडा हो गया। वह शरीर से चाहे कुबडा हो गया मगर गुणों से वह सुन्दर ही था। गुण हो तो कुबडापन लज्जा की बात नही। अगर गुण न हुए तो रूप किस काम का! ढाक के फूल देखने मे बहुत सुन्दर होते है, और कस्तूरी काली होती

है फिर भी कस्तूरी की कद्र की जाती है। ढाक के फूलो को कौन पूछता है ?

सुसुमारपुर के राजा दधिपर्ण के पास कुवडा नल रहने लगा। वह मजेदार रसोई वनाता है। सूर्य की किरणो से खीर वनाने की कला भी उसे आती है।

किसी तरह दमयन्ती को नल का पता चल गया। उसने अपने पिता से सारी वात कही। पिता ने कोई वहाना करके दधिपर्ण को न्योता दिया। दधिपर्ण का कुवडा रसोइया भी साथ गया। वहाँ पहुँचने पर सव को विश्वास हो गया कि यही नल है।

नल और दमयन्ती का फिर मिलन हुआ। धन्य है ऐसे नल को चाहने वाली सती दमयन्ती !

नल ने कुवेर से अपना राज्य फिर ले लिया। दमयन्ती फिर महारानी वन गई। कुछ दिनो वाद उसको एक वालक की प्राप्ति हुई। उसका नाम रक्खा गया—पुष्पकर।

कुमार के वडा होने पर उसे राज्यगद्दी सौंपकर राजा नल और महारानी दमयती दोनो ने ही आत्मा का कल्याण किया।

सुवाहुकुमार

(१)

धन्य धरिणी के सु-सुत, कुंवर सुवाहुकुमार,
राज तजा तृणवत् तथा तजी पांच सौ नार।

हस्तिशीर्ष नामक विशाल नगर था। वहाँ के राजा का नाम अदीनशत्रु था। उसके धारिणी नामक रानी थी। रानी की कूख से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके लम्बे और मजबूत बाहु थे। इस कारण उसका नाम पडा-सुबाहुकुमार।

सुबाहुकुमार राजा का एकलौता बेटा था। लालन-पालन मे राजा ने कोर-कसर नही की। पढाया-लिखाया और होशियार किया।

कुमार जवान हो गया। शरीर जैसा स्वस्थ वैसा ही सुन्दर था। माता-पिता ने उसकी राय लेकर विवाह कर दिया। वह पुष्पचूला आदि पाँच सौ पत्नियो का स्वामी बना। उसे पाँच सौ महल दिये गये। एक-एक महल मे एक-एक पत्नी रहती थी। सुबाहुकुमार की सभी पत्नियाँ उसे खूब चाहती थी।

इस तरह दिन पर दिन बीतने लगे। एक दिन अपनी पाँच सौ पत्नियो के साथ सुबाहुकुमार वन-विहार के लिये निकला। वहाँ सरोवर मे छिप कर ढूंढने का खेल चल रहा था। उसी समय सुबाहुकुमार की नजर नगर के दरवाजे की तरफ गई।

चीटियो की तरह मनुष्यो का ताता लगा था। सभी लोग जल्दी-जल्दी वन की ओर बढे चले आ रहे थे। सुबाहुकुमार सोचने लगा-इतने सारे लोग कहाँ जा रहे होंगे? इतने मे ही सामने से दौडकर आते हुए दूत ने हाँफते-हाँफते कहा-

'युवराजजी! भगवान् महावीर पधारे है। महाराज, महारानीजी, मन्त्रीजी, महाजन और प्रजाजन-सभी भगवान् के

दर्शन के लिए गये हैं। महाराजा ने आपको याद किया है और यह सदेश भेजा है।'

भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त होने के वाद की यह बात है। केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद भगवान् तीर्थ की रचना कर चुके थे। इस समय वे अपने उपदेश और जीवन-व्यवहार के द्वारा प्रकाश फैला रहे थे।

सुबाहुकुमार, भगवान् की कीर्ति पहले ही सुन चुके थे। साक्षात् दर्शन नही हुए थे और न उपदेश ही सुना था। सुबाहुकुमार को एकदम जिज्ञासा उत्पन्न हुई। रमणियो के बीच क्रीडा करने वाले सुबाहुकुमार तत्काल सावधान हो गये। दलदल मे फँसे हाथी को कोई बाहर निकाल दे तो हाथी को जैसा आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द सुबाहुकुमार को हुआ। वह भगवान् के पास गये। उस शान्त, दान्त, कान्त और आनन्दकन्द मूर्ति को देखते ही सुबाहुकुमार को पूर्वभव का स्मरण हो आया।

उसने जान लिया कि वह पहले भव मे सुमुख नामक गाथापति था। धर्मघोष मुनि के सुशिष्य सुदत्त मुनि के साथ उसका समागम हुआ। उसने भावपूर्वक उन तपस्वी को भिक्षा दी थी।

इस दृश्य की स्मृति के साथ ही साथ उसके दिल मे वैराग्य भड़क उठा। वासना के सस्कार भस्म होने लगे। उसने उपदेश सुना। और सब चले गये किन्तु सुबाहुकुमार का जी भगवान् को छोड़ने को ही नही चाहता था। आँखो से प्रेमाश्रु

की धारा वहने लगी । भगवान् ने सुबाहुकुमार की भक्ति देखकर पूछा-'सुबाहु ! तुम्हारी क्या इच्छा है'?

गद्गद कण्ठ से सुबाहु ने कहा-'प्रभो ! आपके सत्संग में निरंतर रहकर पूर्ण साधुता का पालन करना योग्य है, लेकिन इस समय मै अपनी शक्ति के अनुसार गृहस्थधर्म को स्वीकार करता हूँ ।'

भगवान् ने उत्तर दिया-'जैसी तेरी इच्छा ।'

सुबाहुकुमार संपूर्ण दीक्षा लेने के लिए छटपटा रहा था; मगर उसने पहले श्रावक की दीक्षा ली ।

वह घर गया पर चित्त उसका भगवान् मे ही लगा था । उसकी नस-नस में वैराग्य रम रहा था । उसकी पाँच सौ स्त्रियो ने उसे वैराग्य से हटाकर राग की ओर खीचने का प्रयत्न किया । सुबाहु के सामने उन्हीं की हार हुई । वह सांसारिक इच्छाओ से उदासीन रहने लगा । उसकी ज्ञानमय श्रद्धा दिनो दिन बढने लगी ।



सुबाहुकुमार
(२)

विहार करते-करते भगवान् महावीर फिर उसी नगर में पधारे । सुबाहुकुमार के आनन्द का पार न रहा । वह प्रभु को वन्दना करने के लिए गया । भगवान् के सामने उसने अपनी इच्छा प्रकट की । भगवान् ने उसकी स्थिति देखकर कहा-

'यथासुख देवानुप्रिय ! अब प्रतिबन्ध न हो।' ऐसा कह कर प्रेरणा दी।

पत्नियो से आज्ञा लेने मे उसे देर न लगी। फिर वह अपने माता-पिता के पास आया और नमस्कार करके बोला- 'पूज्य माताजी और पिताजी ! मैं दीक्षा ग्रहण करके मनुष्यजन्म को पूरी तरह सार्थक करना चाहता हूँ।'

पिता ने कहा-बेटा ! 'तूं अकेला ही मेरा सहारा है। हमारे बुढापे मे तुझे हमारी सेवा करनी चाहिए। राजगद्दी का भार सँभाल कर प्रजा का पालन करना चाहिए। दीक्षा लेने से ही मनुष्य-जन्म सार्थक होता है और दीक्षा लिये विना कल्याण हो ही नही सकता ऐसा भगवान् का कहना नही है। गृहस्थाश्रम मे रह कर कर्त्तव्य का पालन कर। अभी तूं छोटा है। जब बडा हो जाय तो भले सयम धारण करना। तूं पाँच सौ पत्नियों का स्वामी है। अभी घर में पालना भी नही बँधा है। तेरी सतान देखने पर हमारे नेत्र शीतल होगे। वत्स ! तेरे जैसे सपूत बेटे भी माँ-बाप को छोड जाएँगे तो दुनियाँ रसातल मे नही चली जायगी ?' इतना कहते-कहते पिता का गला भर आया।

कुमार ने कहा-'पिताजी ! आपको दुखी करके मैं नही जाना चाहता। इसीलिये तो आपके चरणो मे गिर कर प्रार्थना कर रहा हूँ। संतान का होना या न होना कोई महत्त्व की बात नही है। फिर सतान होकर भी जिंदा रहे या न रहे, अच्छी निकले या खराब, यह कौन जानता है ? इसलिए सतान का भरोसा करके बैठना उचित नही है।

गृहस्थाश्रम मे रहकर भी कदाचित् कल्याण की साधना हो सकती है । ऐसी साधना करने वाले वेष से गृहस्थाश्रमी होगे मगर भावना से तो वे भी साधु ही रहे होगे । पिताजी ! अपका बुढापा मेरी पत्नियाँ सेवा द्वारा अवश्य सुधारेगी । ऐसा कहकर मै जवाबदारी से छुटकारा नही पाना चाहता । मै अपने हृदय के सच्चे वेग का इस अनुपम समय पर उपयोग कर डालने के लिए कहता हूँ । पिताजी ! इस छोटे-से राज्य की धुरा को धारण करने के बदले मे विश्व-राज्य धुरा को धारण कर सकूँ, इसके लिए मुझे आप आशीर्वाद दीजिए । ऐसा बनने के लिए मुझे तुरत जाना चाहिए । यहाँ पल भर का भी कहाँ भरोसा है ? मौत किसे छोडती है ? और कौन जाने वह कब झपट्टा मार दे ?'

पुत्र के विनय और वैराग्य से भरे वचन सुनकर पिता पिघल गये । उन्होने आशीर्वाद के साथ दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी । मगर माता का मन अब भी नही मानता था । माता ने कहा-'बेटा ! माता के हृदय मे पुत्र-स्नेह का अखड झरना बहता रहता है । तूं इस बात को कैसे समझ सकता है ? इसे अनुभव करने वाला ही समझ सकता है । जब सतान गर्भ मे आती है तभी से माता-पिता का सतान के साथ देह और मन के द्वारा सबध जुड जाता है । सतान कैसी ही क्यो न हो, फिर भी 'मेरा लाल' कहकर पगले, काने-कूबडे पुत्र के माथे पर भी माता तो प्यार का हाथ फेरती ही है । तो फिर तेरे जैसे पुत्ररत्न

के वियोग को हम किस तरह सहन करेगे ? माता के हृदय का विचार तो कर । उतावल मत कर ।'

यो कहते–कहते माता की आँखें भर आई । माता के आँसू देखकर सुवाहुकुमार कुछ पसीज गया ।

यह देख माता आगे वढकर कहने लगी–'मेरे लाल ! इतना होने पर भी मै तुझे सयम से हटाना नही चाहती । ऐसा करूँगी तो मै अपने कर्त्तव्य से गिर जाऊँगी । इसलिए मै अपने वात्सल्य को हृदय मे दवा कर, मुझे जो कुछ कहना चाहिए वही कहती हूँ। भगवान् महावीर का शासन विश्व की तरह विशाल है । और जितना विशाल है उतना ही कठिन भी है। तूंने श्रावक के व्रतो को दिपाया है मगर साधु का उत्तरदायित्व वहुत अधिक है। तूंने वासना पर तो विजय पा ली है मगर स्नेह को भी तुझे जीतना होगा । समभाव मे स्थिर होने की साधना सरल नही है । एक तरफ क्रोध और मान तथा दूसरी तरफ माया और लोभ । इन सव प्रवल विकारो के सामने टिकने के लिए तप, त्याग, ज्ञान और अखड ध्यान की आवश्यकता पडेगी । इस तरह आगे वढने पर भय तो अन्त तक खडा हुआ ही है । इस वेडे को पार लगाने के लिए भारी प्रयत्न करना पडेगा । वेटा ! भगवान् को सर्व्वस्व अर्पण करके उन्ही की शरण मे रहना । यह समर्पण–वृत्ति तुझे मुसीवत के प्रत्येक मौके पर सहायक होगी । इच्छा है तो जा वेटा ! मै अन्तकरण से आशीर्वाद देती हूँ ।'

माता की प्रेरणा और आशीष से सुबाहकुमार मे अद्‌भुत शक्ति आ गई ।

सुबाहकुमार की दीक्षा की तैयारी होने लगी । प्रजा ने हृदय से सहकार दिया । बडे ठाट-बाट के साथ सुबाहुकुमार सब के साथ भगवान् महावीर के पास पहुँचे ।

सुबाहुकुमार ने पाँच महाव्रतो, पाँच समितियो और तीन गुप्तियो का पालन करने की प्रतिज्ञा ली ।

सुबाहुकुमार ने सिंह की तरह ही प्रतिज्ञा ली और सिंह की तरह ही उसका पालन किया । पाँच सौ रमणियो और राजपाट का त्याग करने वाले सुबहुकुमार धन्य हैं !

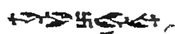
टिप्पण—उस युग मे राजा और श्रीमन्त लोग अनेक स्त्रियो को व्याहते थे । उस युग में स्त्रियो की सख्या अधिक होगी या प्रजा में अधिक पुत्रोत्पत्ति की आवश्यकता होगी । धार्मिक मान्यता भी उस समय ऐसी थी कि—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च ।

अर्थ—पुत्ररहित को सद्‌गति नही होती और स्वर्ग तो मिलता ही नही । यह झूठी मान्यता भी भगवान् महावीर ने मिटा दी । अत अब 'एक पत्नीव्रत' का ही महत्त्व है ।



स्थूलभद्र



कोशा में अनुरक्त हो, चेते फिर धीमान् ।
कोशा के प्रेरक बने, स्थूलभद्र भगवान् ॥

एक था नगर । उसका नाम पाटलीपुत्र । वहाँ नन्द राजा राज्य करते थे । वहाँ बहुत से कुएँ, बावडियाँ और तालाब थे । पास में ही मजेकी नदी बहती थी । नगर के चहुँ ओर बगीचे थे, वाटिकाएँ थी और खेत थे । पानी का सुख था । अनाज का सुख था । उसकी सुन्दरता का क्या पूछना ! और वहाँ की आबादी खूब थी । उस नगर में शकडाल मन्त्री रहता था । उसके दो लडके थे । बडे का नाम स्थूलभद्र और छोटे का नाम श्रयक था ।

मन्त्री ने स्थूलभद्र को पढने भेजा । वह अक्षर विद्या सीख गया । सगीत भी सीख गया । व्याकरण, गणित, साहित्य और तत्त्वज्ञान भी सीखा । इसके बाद उसे नृत्यकला का शौक लगा ।

उसी नगर मे रहती थी एक गणिका । उसका नाम कोशा था । कोशा के गले का क्या पूछना ! कितना सुन्दर था उसका आलाप ! नृत्य कला मे तो कोशा की जोडी ही नहीं मिल सकती थी । प्रथम तो स्त्री और फिर मीठा कण्ठ ! उसका सगीत शास्त्रीय ढंग का था । नृत्यकला मे कुशल होने से कोई

असर ही नही रह गई थी। भले-भले लोग भी कोशा की तरफ ललचाते थे। जिसने कोशा का नृत्य नही देखा वह अपने आपको अधन्य मानता। स्थूलभद्र इसी कोशा से नृत्यकला सीखने लगा।

स्थूलभद्र को नृत्य की बडी धुन लगी। नृत्य की ओर उसकी खूब रुचि बढी। रात-दिन वह इसी विचार मे डूबा रहता। कोशा को तो अनेक ग्राहको को रिझाना पडता था। वह ज्यादा फुर्सत कैसे पाती ? स्थूलभद्र को नृत्य सीखना था वह कोशा के पास जाकर भी सीखता था। माता-पिता को उसका वहाँ जाना अच्छा नही लगता। लेकिन पुत्र के कला प्रेम को देखकर और बडा लडका है, इस बात का विचार करके वे ज्यादा कुछ कह नही सकते थे। स्थूलभद्र कभी-कभी रात में भी कोशा के घर पर ही रह जाता था। इस तरह कई वर्ष व्यतीत हो गये।

अब स्थूलभद्र के शरीर मे जवानी आ गई थी। अभी तक स्थूलभद्र कोशा के यहाँ कला का पुजारी था। अब वह उसके शरीर की सुन्दरता पर भी ललचाया। कोशा का प्रेम भी स्थूलभद्र पर बढने लगा।

स्थूलभद्र भूल गया। कोशा भी भूली। शिक्षिका और शिष्य के बीच की पवित्रता समाप्त हो गई। दोनो पति-पत्नी की तरह रहने लगे।

कोशा के पास ग्राहक आते, पर धन्धे मे उसका चित्त

नही लगता। उसका चित्त स्थूलभद्र मे ही लगा था। यह बात जग-जाहिर हो गई थी। कोशा को स्थूलभद्र मे स्वर्ग दिखाई देता और स्थूलभद्र को कोशा के बिना सारा ससार सूना लगता था। दोनो के दिल साथ-साथ धडकते थे।

कैसी अटूट प्रीति! मगर भीतर मोह था। अमृत के बूंदो मे जहर मिला हुआ था। दोनो उस जहर को पीते फिर भी उन्हे सतोष नही था। उनकी आसक्ति बढती गई। आग में घी होमने से आग कभी तृप्त नही होती। मृगजल से कभी प्यास बुझ सकती है ?

कोशा के घर रहते-रहते बारह वर्ष बीत गये। एक दिन एक सेवक ने आकर खबर दी कि आपके पिताजी बीमार पडे हैं। पिता, पुत्र को देखने के लिए तरस रहा था पर भेजे हुए सदेश वृथा जाते थे। गणिका के मोह मे फँसकर स्थूलभद्र ने पिताजी की बिमारी की भी परवाह नही की। यहाँ तक कि अन्तिम सेवा का लाभ लेने की भी परवाह नही की।

बीमारी बढ गई। मृत्यु का समय आ गया। अब की बार खास आदमी के साथ स्थूलभद्र को बुलावा भेजा गया। पिताजी ने कहलाया—'बेटा स्थूल! सिर्फ मुँह दिखाकर वापिस लौट जाना' मगर स्थूलभद्र इस संदेश को भी पी गया। उसके लिए तो कोशा ही सर्वस्व थी। मनुष्य जब मोह से अन्धा हो जाता है तो मनुष्यता को भी भूल जाता है।

मन्त्री शकडाल की मृत्यु हो गई। लम्बी श्मशान यात्रा निकली। कोशा के महल के नीचे से शव गुजरा। इस समय स्थूलभद्र कोशा का सगीत सुन रहा था। रास्ते मे लोगो की आवाज सुनाई दी। इस आवाज से अपने मजे में बाधा पडी देखकर वह बड़-बडाने लगा—लोग कितने मूर्ख हैं ! किलबिल-किलबिल मचा रहे हैं। इस तरह कहता हुआ वह छज्जे मे आया। अपने भाई श्रयक को अर्थी में लगा देखा। पूछताछ करने पर पता चला कि पिताजी परलोक सिधार गये हैं यह जानकर स्थूलभद्र चौंक उठा। उसका हृदय काँपने लगा। सोचा-'हाय ! मै कितना अधर्मी हूं ? पिताजी का शव श्मशान में जा रहा है और में विषय-रस मे डूबा हूं ! धिक्कार है मुझे !'

बहुत सी समर्थ आत्माएँ ऐसी होती हैं, जो एक ही घटना से जाग उठती है। स्थूलभद्र उन्ही मे से थे। वह जाग उठे। वह कोशा के महल से बाहर निकल कर शव के पास गये। अर्थी में जुडे। दाहंक्रिया में भाग लिया।

नन्द राजा को तो अब मालूम हुआ कि शकडाल के दूसरा लडका है ! राजा ने शकडाल का मन्त्री पद स्थूलभद्र को सौंपने की इच्छा प्रकट की। लेकिन स्थूलभद्र तो जाग चुके थे। दुनिया के राग-रगो की ओर से उनका चित्त हट गया था। उन्होंने मत्री का पद स्वीकार नही किया। सभूतिविजय नामक मुनिराज से चारित्र अगीकार करके उन्होंने अपने जीवन की दिशा बदल डाली। उन्होने उसी तरफ अपनी शक्ति मोड दी।

स्थूलभद्र भोगी मिटकर त्यागी बने। देहविलासी की जगह आत्मविलासी बने। उन्होंने कला के सच्चे आत्मा को पहिचान लिया। असली सुन्दरता का मूल परख लिया।

इस आनन्द का अनुभव करते- करते वे मस्त हो गये। एक दिन उनके मन मे आया-'कोशा को भी यही आनन्द चखाऊं तो कितना अच्छा हो !' उन्होने अपने मन की यह बात गुरु के सामने कही। गुरु स्थूलभद्र को समझ चुके थे। उन्होने कहा-, भले देवानुप्रिय ! यह चौमासा वही बिताओ। आनन्द से जाओ और तुम्हारे निमित्त से कोशा का भी कल्याण हो।

गुरुजी की आज्ञा मिल गई। अन्त करण का आशीर्वाद भी मिल गया। स्थूलभद्र कोशा के महल में आये।

स्थूलभद्र के दीक्षा लेने पर कोशा को बहुत बुरा लगा था। उसके विरह के दुःख से वह झुलस-सी गई थी। आज उसने स्थूलभद्र को साधु के वेष में ही सही, पर देख पाया। उसके हर्ष का पार न रहा। पहले के प्रसंग याद आ गये। दिल उमड आया। पर मुनिके मन में ऐसी कोई बात नही थी। उन्होने आज्ञा लेकर कोशा के महल में ही निवास किया। दिन बीतते चले गए। मुनि अपने तप, त्याग और ध्यान मे मस्त थे। कोशा की इच्छा पूरी नही हुई, अत वह आकुल-व्याकुल होने लगी। वह स्थूलभद्र को फिर अपना प्यारा बनाना चाहती है। लेकिन स्थूलभद्र का तेज देखकर उसकी जीभ नहीं खुलती।

कोशा सिंगार सजती है । हावभाव दिखाती है । सुगन्ध महकाती है । सिंगार-वर्धक चित्र टांगती है । बढ़िया स्वर से शृंगारमय गाना गाती है, नृत्य करती है । लेकिन मुनि का तो एक भी रोम नहीं फड़कता ।

जहाँ भोग भोगे वहीं ऐसा अद्‌भुत त्याग ! धन्य हैं मुनिराज स्थूलभद्र !

निरख—निरख नव यौवना, लेश न विषय निदान ।
आत्मा को देखे अहा ! ते भगवान् समान ॥

स्थूलभद्र सचमुच इस विषय में भगवान् के समान थे । अन्त में कोशा हार गई । मुनि ने मौका देखकर उसे उपदेश दिया-'कोशा ! इस चमड़ी में रस नहीं है, रक्त या मांस में भी रस नहीं है । रस तो आत्मा में है ।' इतने-से शब्दों से ही कोशा पिघल गई । आत्मा के तेज के सामने कौन नहीं पिघल जाता ?

* * * *

कोशा अब श्राविका बन गई । व्रतों और नियमों का पालन करने लगी । वह आत्मा का ध्यान करती है और ऊँची-ऊँची चढ़ती जाती है । स्थूलभद्र का काम पूरा हो गया । जिस कोशा को शरीर की तरफ खींचा था, उसे अब आत्मा की तरफ खींच लिया । ऋण चुका दिया । स्थूलभद्र को खूब संतोष हुआ । वह गुरु के पास आये और चरणों में मस्तक झुकाया ।

दूसरे शिष्य भी आये। उन्होंने भी गुरुजी को वन्दना

की। कोई शेर की गुफा के पास चौमासा बिताकर आये थे, कोई साँप की बाबी के निकट रहे थे। किसी–किसी ने कठोर तप किया था।

गुरुजी ने सब का वृत्तान्त सुनकर कहा–'अच्छा किया।' स्थूलभद्र के लिए कहा–'बहुत अच्छा किया।' यह सुन कर दुसरे शिष्यो के चेहरे बदल गए। मन ही मन उन्होंने कहा–, 'गुरु कितने पक्षपाती है।'

गुरुजी समझ गये। दूसरा चौमासा आने पर उन्हें भी ऐसा ही अनुभव करने का अवसर दिया। सकटो को सह लेना सरल है, पर प्रलोभनो को जीतना बडा कठिन है। सिह की गुफा मे रहना सरल है किन्तु जवान कामिनी स्त्री के सामने अडिग रहना कठिन है। अनुभव से सब को इस बात पर विश्वास हो गया। कोशा तो अब अडिग हो चुकी थी। मुनि डिगे पर कोशा नही डिगी। मुनि हार कर लौटे। उनके मुँह से यह उद्गार निकल पडे –

भगवान् स्थूलभद्रधन्य है।

उनके स्वर मे स्वर मिलकर हम भी कहते हैं–

भगवान् स्थूलभद्र धन्य है ?

कोशा के मन्दिर मध्य, रहे मुनि स्थूलभद्र,
वेश्या संग वास तो भी हुए नहीं विहारी।
हुए नहीं विकारी, उनको वन्दना हमारी,
देखो अरे देखो जैनों, कैसे व्रतधारी ॥

नेम-राजुल



(१)

नवयुवक सुन्दर नेमजी, राजमती वरने गये,
आक्रन्द सुन पशु-पक्षियों का लौटकर त्यागी हुए।
कल्याण निज-पर का किया, संयम हृदय मे धार कर।

कू हू . . हू .....फि.. फी......हि .हि......

अरे! यह तो दिव्य पाञ्चजन्य शख की आवाज है! श्रीकृष्ण वासुदेव के सिवाय और कौन यह शख फूक सकता है? लेकिन वासुदेव तो कचहरी मे बैठे है। तो फिर किसने यह आवाज की है?

लोग चकित होकर आपस मे बाचीत करने लगे। वासुदेव भी सोच-विचार मे पडे हुए थे। उसी समय हाँफता-हाँफता एक आदमी आ पहुँचा।

वासुदेव बोले—शखरक्षक! किसने शंख बजाया है?

शखरक्षक ने सास लेने के बाद कहा—श्री नेमिकुमार ने।

इन नेमिकुमार का असली नाम अरिष्टनेमि था। लोग इन्हे नेमिनाथ भी कहते थे। उनकी माता का नाम शिवादेवी छोटे भाई का नाम रथनेमि और पिता का नाम समुद्रविजय था। समुद्रविजय, के उनसे छोटे नौ भाई और थे। उनमे सब से छोटे वसुदेव थे।

वसुदेव की अनेक स्त्रियाँ थी । उनमे से रोहिणी की कूँख से बलदेव उत्पन्न हुए और देवकी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ इस प्रकार नेमिनाथ, श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे।

पाँचजन्य शख को वासुदेव के सिवाय कोई उठा भी नहीं सकता था । बजाने की तो बात अलग रही । इसी कारण जब नेमिनाथ ने शख बजाया तो सब अचरज मे पड गये । मगर नेमिनाथ के लिये वह खिलवाड था ।

एक वार वासुदेव ने अपना हाथ नमाने के लिये कह कर उनके बल की दूसरी बार परीक्षा कर ली। नेमिनाथ ने वासुदेव का हाथ नमा दिया मगर वासुदेव उनका हाथ नही नमा सके। नेमिनाथ, वासुदेव से उम्र मे छोटे थे किन्तु बल मे बडे थे ।

नेमिनाथ के बल की सभी जगह प्रशसा होती थी। वह जैसे बलवान् थे, वैसे ही सुन्दर थे। वासुदेव का सत्यभामा आदि स्त्रियो के साथ विवाह हुआ था। नेमिनाथ क्वाँरे थे। माता-पिता की पुत्र को व्याहने की लालसा थी। लेकिन पुत्र की इच्छा के विरुद्ध वे कोई काम करने के लिए तैयार नही थे। अब वासुदेव के मन मे आया कि छोटे भाई का विवाह करना चाहिए।

एक वार उन्होने अपनी रानियो से इस विषय मे बातचीत की। भौजाइयो ने कई उपायो से देवर को मना लिया। राजा उग्रसेन की पुत्री के साथ सगाई हो गई। पुत्री का नाम था राजीमती। राजीमती तो बस राजीमती ही थी। सरस्वती

भी उसकी शोभा का वर्णन करते-करते थक जाती । राजीमती का लाड का नाम राजुल था। राजुल के गुणो की गिनती नही हो सकती थी। जैसे वर वैसी ही वधू ! यह जोडी धन्य है।

'शुभ मुहूर्त्त निकलवाया गया। आखिर विवाह का दिन आ पहुँचा । सौरीपुर में आज आनन्द ही आनन्द छाया हुआ था। बरात रवाना हुई। सब से आगे शहनाइयाँ मधुर स्वर मे बज रही थी। ढोल गडगडा रहे थे। तासे अलग ही राग आलाप रहे थे। तरह-तरह के बाजे बज रहे थे। उनके पीछे सैकडो घोडेसवार कलैया कुमार शान के साथ चल रहे थे। फिर हाथीसवार और पैदलो की विशाल सेना चल रही थी। इस सेना के बीचो-बीच समुद्र के फेन के समान सफेद घोडो वाला और खूब सजाया हुआ रथ था। इस रथ मे दूल्हा बने नेमिकुमार सुशोभित हो रहे थे। मस्तक पर उत्तम छत्र दीप्त हो रहा था। दोनो तरफ चँवर ढोरे जा रहे थे। उनके सिंगार का क्या पूछना ! उनके तेज की बात ही न्यारी है ! रथ के पीछे-पीछे यादव कुल की नारियाँ तथा नागरिक नारियाँ मधुर और कोमल कठ से मगल-गीत गाती जा रही थी। कोई-कोई सवारियो पर सवार थी और कोई-कोई पैदल चल रही थी। इनके पीछे यादवो का और नागरिक जनो का विशाल समूह था। वुढियाएँ और नोकर--चाकर अपने--अपने घरोसे बरात को देखते थे। बाकी सारा नगर बरात की शोभा देखने के लिए चबूतरो पर खडा था ।

उधर राजा उग्रसेन ने भी बडी भारी तैयारी की। जहाँ समुद्रविजय जैसे समधी हो और वासुदेव जैसे बराती हो तो उनके स्वागत की तैयारीयाँ भी वैसी ही होनी चाहिए। बरात धीरे धीरे चलती हुई उग्रसेन राजा के महल के पास आ पहुँची।

सामने के छज्जे मे, राजीमती सोलह सिगार सज कर वैठी थी। उसकी सखियाँ भी नेमिकुमार को देख रही थी। उनमें से एक ने कहा—धन्य है सखी, तुम्हारा सफल जीवन धन्य है! नेमिकुमार जैसे नाथ मिलना अहोभाग्य की बात है!

दूसरी सखी बोली—जिसने पूर्व जन्म मे बहुत पुण्य किया हो, उसी को ऐसे प्रियतम मिल सकते हैं।

तब तीसरी सखी ने कहा—मगर राजुल जैसी प्रियतमा पाने वाला क्या कम पुण्यशाली है?

(इस प्रकार सखियाँ आपस मे बतचीत कर रही हैं। राजीमती के हर्ष का पार नही है।)

इसी समय नेमिनाथ का रथ वापिस लौट पडा। रग मे भग हो गया! राजुल और उनकी सखियाँ भी हैरान थी। हो क्या गया? मालूम हुआ—नेमिनाथ पशुओ की पुकार सुनकर विरक्त हो गये है। वे अब विवाह नही करेगे।

बात यो हुई। बरातियो मे कोई मासाहारी भी हो सकता है। यह ख़याल करके उग्रसेन ने पशुओ और पक्षियो को मँगवा कर बाड मे और पीजरो मे बन्द कर रक्खा था। इन

पशु पक्षियो की करुण पुकार नेमिनाथ के कानो में पडी। उन्होंने सारथी को रथ खडा करने की आज्ञा दी। पूछने पर मालूम हुआ कि यह सब पशु-पक्षी बरातियो के भोजन के लिए है।

नेमिनाथ ने विचार किया-'अहो ! मेरे निमित्त यह पाप ! यह विचारते-विचारते नेमिनाथ का हृदय उमड आया। दया के कारण उनकी आँखो मे आँसू आ गये।

दूसरो को खुश करने के लिए मनुष्य कितना अनर्थ कर बैठता है ! नेमिनाथ यह सोचते-सोचते बहुत गहराई तक पहुँच गये। मै किस लिए विवाह करता हूँ ? विवाह से मुझको या ससार को क्या लाभ होगा ? सतान प्राप्त होगी ? लेकिन सतान के लिये शक्ति लगाने की अपेक्षा आत्मकल्याण में शक्ति क्यो न लगाई जाय ? आत्मकल्याण के मार्ग मे स्थिर हुए बिना कुटुम्ब, समाज, देश या विश्व का उद्धार कैसे हो सकता है ?

इस तरह सोचकर रथ वापिस लौटाया। नेमिनाथ, राजुल के पति बनने के बदले मुक्ति सुन्दरी के पति बनने के लिए तैयार हुए।

राजुल यह खबर सुनकर बेहोश होकर गिर पडी। काले भौंरे के समान बालो का जूडा खुल गया। वेणी जमीन पर लोटाने लगी। आभूषण फीके पड गए। उसकी सखियाँ हवा करने लगी और ढाढस बँधाने लगी। थोडी देर मे राजुल होश मे आई। इतने में माता-पिता भी आ पहुचे। उन्होने कहा—बिटिया ! चिन्ता मत कर। हम इससे भी अधिक सुन्दर वर खोज निकालेगे।

राजुल अब उत्तम विचार पर पहुँच गई थी । उसे माता पिता की यह बात नही रुची । वह धीमे स्वर से बोली-'पूज्य माताजी और पिताजी ! विवाह करूँगी तो इन्ही के साथ, नही तो नही । ससार के दूसरे पुरुष मेरे भाई और पिता हैं ।' अहा ! कितनी श्रेष्ठ है यह भाषा ! और यह भाषा सिर्फ कहने के लिए नही थी । यह तो राजुल का पक्का निश्चय था ।

अब किसमें साहस था जो राजुल की मगनी कर सके ? माता-पिता ने भी कन्या के विवाह का विचार छोड़ दिया ।

राजुल कुँवारी रही । राजुल की टेक धन्य है ! मुँह में आया कौर छिन गया । फिर भी सतोप मानने वाली राजुल को हजारो वन्दना !

नेमि-राजुल
(२)

राजुल अब सतियो के सुन्दर जीवन चरित्र पढने म अपना समय विताती है और कुमारिका-व्रत पालती है । दान ही अब उसका आभूपण है । शील ही उसका सिगार है ।

नेमिनाथ ने एक वर्प तक खुले हाथो दान दिया । उसके वाद दीक्षा ले ली । रैवतक (गिरनार) पर्वत पर वहुत से साधुओ के साथ जाते है । नगे पैरो चलते है । भिक्षा मे जो कुछ भी रूखा-सूखा मिल जाता है उसी से अपना निर्वाह

करते हैं। प्राणीमात्र को अपनी आत्मा के समान समझते हैं। सत्य बोलते हैं। ब्रह्मचर्य पालते है। तप और ध्यान मे मग्न रहते हैं। इस तरह साधुता का पालन करते रहने से मोह का वृक्ष समूल भस्म हो जाता है। उन्हे केवलज्ञान प्राप्त होता है। अब वे गाँव-गाँव घूमकर लोगो को उपदेश देते हैं। चार तीर्थों की स्थापना करते हैं। इस कारण वे तीर्थङ्कर कहलाते है। वही बाईसवे तीर्थङ्कर भगवान् अरिष्टनेमि हैं।

राजुल ने भी अपने पति का मार्ग स्वीकार किया। उसने अपने बडो-बूढ़ो और वासुदेव जैसो के आशीर्वाद प्राप्त किये। उसने भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षा ली। राजुल के साथ और भी बहुतेरी बहिने दीक्षित हुईं।

पति के पथ पर विचरनेवाली कुमारी राजुल धन्य है!

इस जोडी ने दाम्पत्य की सच्ची सफलता साधी!

राजुल साध्वी सैकडो साध्वियो के साथ विचरने लगी। वह तप और संयम से अत्यन्त पावन होकर पृथ्वी को पवित्र करने लगी।

एक बार वह गिरनार पर गई। इतने मे वर्षा होने लगी अपने भीगे वस्त्रो को सुखाने के लिए उन्होने एक गुफा का आश्रय लिया। वस्त्र हटा दिये। शरीर उघाडा हो गया।

संयोगवश उसी गुफा में रथनेमि बैठे थे। अन्धकार के कारण राजुल उन्हे देख नही सकी थी। रथनेमि राजुल का रूप देखकर मोहित हो गए और मोह के वचन कहने लगे।

राजीमती ने उत्तर में कहा—साधुजी ! जरा अपने वेश की तरफ तो देखो ! तुम किसके पुत्र हो ? तनिक अपने कुल की मर्यादा को सोचो। तुम उन भगवान् नेमिनाथ के छोटे भाई हो जिन्हें विवाह के समय वैराग्य हुआ था ! आज वे भगवान् हो गये हैं। वही मेरे मस्तक के छत्र है। वही तुम्हारे बडे भाई हैं जैसे उन्होने भोग-विलास का त्याग किया है, उसी तरह तुमने भी भर जवानी में त्याग का मार्ग ग्रहण किया है।

योगीराज ! इस काया मे रखा क्या है ? मल-मूत्र और बदबू से भरी यह देह-रूपी थैली चैतन्य के बिना निकम्मी है। इस चैतन्य के असली स्वरूप को पाने के लिए ही आप सन्त बने हैं। इसी के लिए मैं साध्वी बनी हूँ।

हाथी की अम्बारी त्यागकर कौन गधे पर सवार होना चाहेगा ? एक बार वमन की हुई चीज को कौन खाने की इच्छा करेगा ? कीडे की तरह विषय-भोग में किलबिलाते रहने की अपेक्षा तुम्हारे लिए अपघात कर लेना कही उत्तम है। मुनि-राज ! यह विषैले वचन और विचार आपके पवित्र दिमाग में किस प्रकार घुसे ?

अहा ! कितनी अद्भुत और तेजस्वी वाणी है ! रथनेमि का पतन होते-होते रह गया। वह बार-बार सती का उपकार मानने लगा। उसने कहा—धन्य हो, नारीजाति के कीर्ति-कलश ! तुम धन्य हो। साध्वी हो तो ऐसी ही हो।

इस प्रकार राजीमती ने अपना भी कल्याण किया और कितने ही दूसरे जीवो का भी कल्याण किया। भगवान् नेमि-नाथ ने भी मोक्ष प्राप्त किया।

वन्दन हो भगवान् नेमिनाथ को !
अगणित वन्दना हो इस प्रेरणा-दायिनी साध्वी राजुल को !

वीर धन्ना

(१)

धीरज विनय मति का खजाना वीर धन्ना धन्य है,
जाये जहाँ संपद बढे सौभाग्यवान् अनन्य है।
अपने विरोधी बन्धुओं की भी मदद करता रहा,
सामान्य कारण या तपस्वी साधु-श्रेष्ठ बना अहा !

दक्षिण देश मे गोदावरी नदी है। उसके किनारे पौंडन नामक नगर था। उस नगर मे धनसार नाम के सेठ रहते थे। उनके चार लडके थे। उनमे सब से छोटे का नाम धन्ना था।

धन्ना बहुत भाग्यशाली था। उसके कदम-कदम मे धन था। वह जहां कही जाता, चैन की बशी बजने लगती।

धन्ना सबका प्यारा था। बुद्धि का सागर था। विनय मे पूरा था। ऐसे धन्ना का सभी बखान करते थे। मगर उसके बडे भाइयो को उसकी तारीफ नही रुचती थी। वे लोग हमेशा अपने पिता से झगडते और कहते–बस, आपतो धन्ना को ही सभी कुछ समझते हैं। आपके लिए अकेला धन्ना चतुर है और हम सब पागल हैं! धन्ना इतना वडा हो गया है, फिर भी उसे व्यापार करना तक तो आता नही! हम व्यापार करते हैं, कमाते हैं। इसी से धन्ना खाता, पिता और मौज करता है। लेकिन आप धन्ना की ही तारीफ के पुल बांधा करते है!

पिता ने सोचा–इन सब के चित्त मे डाह है। चलो एक बार परीक्षा कर लूं। तभी इन्हे पता चलेगा कि धन्ना कितना होशियार है।

उन्ही दिनो गोदावरी मे किराने का एक वडा जहाज आया। किराना बहुत कीमती था, मगर जहाज का मालिक रास्ते मे मर गया था। अत उस जहाज पर राजा का अधि–कार हो गया। राजा ने व्यापारियो को बुलाया। धनसार सेठ को भी कहलाया।

धनसार सेठ ने सोचा–मौका अच्छा है। उसने अपने सब लडको को बुलाकर कहा––राजा का जहाज आया है। सब व्यापारी जा रहे हैं। किराने खरीदने के लिए अपने से भी कहा गया है। कहो, कौन जायगा?

ईर्षालु लडको ने कहा—भेजो न अपने धन्ना को, पता चल जायगा कि कैसा व्यापार करना जानता है !

पिता ने धन्ना से कहा—अच्छा, बेटा तू ही जा।

धन्ना ने पिता की आज्ञा स्वीकार की। साथ मे रकम लेकर वह किराना खरीदने चल दिया।

व्यापारी इकट्ठे हुए। ऐसा चढाव-उतार हुआ कि न पूछो वात ! केशर, कस्तूरी, कपूर आदि तो बिक गया, रह गया खारी मिट्टी का एक ढेर-सा। व्यापारियो ने उस ढेर को खारी मिट्टी का ही ढेर समझा। किसी ने उसकी तरफ देखा तक नही और सब चले गये। धन्ना ने सोचा—'इस जहाज का मालिक बडा व्यापारी था। कीमती किराना लाया था। वह इतनी कीमती चीजो के साथ क्या दूर देश से मिट्टी लाया ? जान पडता है, यह भी कोई कीमती चीज होगी ?' यह सोच-कर उसने मिट्टी को चुटकी में लिया। भाग्य से उसे एक नई वात सूझ आई। वही लोहे के टुकडे पडे थे। उसने दोनो चीजो को साथ मे गर्म किया तो सोना वन गया। फिर क्या पूछना था ! धन्ना ने सारा ढेर खरीद लिया और घर ले आया।

ईर्षाखोर राह देखते बैठे थे। ईर्षा कमजोर मनुष्य की निशानी है। जो दूसरे के गुणो की बरावरी नही कर सकता वह ईर्षा करके सतोष मान लेता है। ईर्षालु पुरुष दूसरे के अव-गुण देखता है। धन्ना के भाई ऐसे ही थे। मिट्टी के उस ढेर को देखकर वे कहने लगे—'पिताजी, देखिए। आपका धन्ना

कितना बढिया किराना खरीद लाया है ! हमने पहले ही नही कह दिया था कि हजरत व्यापार मे इतने चतुर हैं !'

पिता ने आकर देखा। वह उस चीज को पहचानते थे। अतएव कहा—शावास बेटा ! शावास ! तब दूसरे लडके कहने लगे—'हम तो पहले ही जानते थे कि पिताजी धन्ना को शावाशी दिये विना नही रहेगे। यह तो खारी मिट्टी ही लाया है। अगर मोहरे फेककर रास्ते की धूल उठा लाता तो भी लाडला लडका तो लाडला ही रहता !'

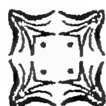
अव पिता से नही रहा गया। उसने कहा—नादान लडको ! धन्ना तेजतुरी लाया है। तुम तो इसे पहचानते नही हो, इसीसे मिट्टी मान रहे हो। जरा इसकी करामत तो देखो। यह कहकर उन्होने सोना वनाकर दिखा दिया। यह करामात देखकर वे लज्जित हुए।

धीरे-धीरे व्यापारी भी धन्ना की सलाह लेने लगे। धन्ना की वजह से धनसार सेठ की प्रतिष्ठा वहुत वढ गई। धन्ना की प्रशसा सारे नगर मे होने लगी। लोग कहते—'धन्ना कितना गुणी है ! उसकी बुद्धिमता का तो कहना ही क्या है ! उसकी विनयशीलता भी तारीफ के योग्य है !' पर ईर्षाखोर भाई उसकी प्रशसा सहन नही कर सकते थे। वे कोई न कोई कारण खोजकर धन्ना से लडते ही रहते।

धन्ना ने सोचा—'भाइयो को दुख होता है तो मुझे इसके बीच मे से हट ही जाना चाहिए। इन्हे अवसर देना

चाहिए।' सच्ची चतुराई इसी को कहते हैं। मगर धन्ना का जाना पिता को पसन्द नही था। पिता को उसने बहुत समझाया। आखिर पिताजी भी राजी हो गये। पिता को विश्वास था कि धन्ना जहाँ कहीं भी जायगा, अपने लिए मार्ग निकाल लेगा। भाइयो ने उसे जायदाद में से कोई हिस्सा नही दिया। धन्ना ने माँग भी नही की। उसे उसकी आवश्यकता ही नही थी।

धन्ना चल दिया। चलते-चलते राजगृह नगरी तक आ पहुँचा। जब वह नगरी में घुसने लगा तो उसने सुना कि राजा का हाथी पागल हो गया है। राजा ने घोषणा की है कि जो पुरुष हाथी को काबू में करेगा, उसकी कद्र की जायगी। धन्ना ने अपनी चतुराइ काम मे ली और थोडे साहस से काम लिया। वह हिम्मत के साथ हाथी के पास गया और स्नेह प्रकट किया। हाथी उसके स्नेह के वश मे हो गया। यह देखकर राजा धन्ना पर प्रसन्न हो गया। नगर के लोगो ने उसका नाम पूछा और धन्यवाद दिया। धन्ना एकदम ही सारी राजगृह नगरी में प्रसिद्ध हो गया। राजा ने उसे बहुत सा धन दिया। योग्य समझकर अपनी कन्या भी व्याह दी। इस प्रकार धन्ना राजगृह मे मौज करने लगा। राज्य मे और प्रजा मे उसका आदर बढने लगा।



वीर धन्ना



(२)

उसी नगर मे गोभद्र नामक एक सेठ रहते थे। उन्होने एक फरियाद की। आरोपी काणा था।

काणा उनके गले पड गया था। सेठ करोडपति थे। काणे ने ठग-विद्या चलाई। सेठ से कुछ रकम हडपने की तरकीब रची। एक बार वह सेठ के पास गया और कहने लगा-सेठजी, अपनी हजार मोहरे ले लीजिए और मेरी आँख मुझे दे दीजिए, जो मैने आपके यहाँ गिरवी रक्खी थी।

सेठ ने कहा-कही आँख भी गिरवी रक्खी जाती है?' पर काणे को तो गले ही पडना था। उसने झगडना शुरू कर दिया। सेठ झगडा झंझट पसन्द नही करते थे। उन्होने उसे दस हजार मोहरे देकर अपना पिंड छुडाया। परन्तु काणे की वन आई। उसने सेठ को परख लिया। उसने और ज्यादा रकम वसूल करने के लिए ठगाई आरम्भ की। वह बोला-'मुझे तो अपनी आँख चाहिए। मैं मोहरे लेकर क्या करूँगा?' इतना कहकर वह रोने लगा। चीखे मारने लगा। लोगो का झुण्ड इकट्ठा हो गया।

सेठजी ने सोचा-यह काणा ऐसे माननेवाला नही है। अतएव उन्होने राजा के पास जाकर फरियाद की।

राजा विचार मे पड गया, क्योकि बात तो साफ झूठी थी, मगर काणे को कैसे समझाया जाय ? आखिर राजा ने अपने जमाता धन्ना को बुलाया । धन्ना के हाथ मे यह मामला सौप दिया गया ।

धन्ना ने अपनी बुद्धि लगाकर कहा—काणा भाई ! तुम्हारी बात सच्ची होगी । सेठ आँखे गिरवी रखनेका व्यापार करते हैं। इनके यहाँ बहुत-सी आँखें होगी उनमें से तुम्हारी आँख को पहचान लेना कठिन है । इसलिए नमूने के लिए तुम अपनी दूसरी आँख दे दो तो उससे मिलान करके तुम्हारी आँख खोजी जा सके ।

यह सुनकर काणे का चेहरा फक हो गया । नमूने के लिए अपनी आँख निकाल कर दे तो अधा हो जाय ! अखिर काणे की ठगविद्या प्रकट हो गई । ठगाई के बदले उसे दड दिया गया । गाँठ की हजार मोहरे देदर और निराश होकर घर लौट जाना पडा । सेठजी की प्रसन्नता का पार न रहा । वाह रे धन्ना का न्याय ! धन्य है धन्ना की बुद्धि ! राजगृही नगरी मे धन्ना की बुद्धि का डका बजने लगा । काणे जैसे लोग ठगाई की विद्या भूल गये । नगरी मे बहुत-सा सुधार हो गया ।

गोभद्र सेठ की एक कुँवारी कन्या थी । उसका नाम सुभद्रा था । सुभद्रा का धन्नाके साथ विवाह हुआ । राजकुमारी सेठ-कुमारी तथा दूसरी छह इस प्रकार आठ कन्याओ के साथ उसका विवाह हुआ था ।

एक बार धन्ना अपने महल के छज्जे मे बैठा था । उसने

रास्ते मे जाते हुए तीन भिखारी देखे। उनके चेहरे उसके भाईयो जैसे थे। धन्ना ने उन्हे बुलाया। वे आये और धन्ना का ऐश्वर्य देखकर चकित रह गये। उन्होने माफी माँग कर कहा–भैया, पिताजी परलोक सिधार गये। धन खत्म हो गया। हमारी यह दशा हुई हैं। यह कर उन्होने अपने दु ख की कहानी कह सुनाई।

धन्ना सज्जन था। कुल्हाडा चन्दन को काटता है पर चदन तो अपनी सुवास ही फैलाता है और कुल्हाडे को भी सुगधित करता है। अपने भाइयो के दु ख का हाल सुनकर धन्ना की आँखो मे आँसू आ गये। उसने कहा–'भाइयो! आप लोग यही रहिए। यह आपका ही घर है।' इस प्रकार आश्वासन देकर उन्हे अपने पास रख लिया और सुखी कर दिया। धन्ना की उदार भावना धन्य है।

धन्ना के गुणो की सुगन्ध दूर-दूर तक फैल गई धन्ना ने दुनिया का सुख, कीर्ति और सद्गुण प्राप्त किये। मगर उसे इससे भी आगे बढना था। जब मूल कारण तैयार होता है तो निमित्त कारण भी मिल जाते है।

आज सुभद्रा धन्ना को नहला रही है। नहलाते-नहलाते उसे अपने भाई की याद आ गई। पिता गोभद्र सेठ और माता भद्रा का पुत्र शालिभद्र ही सुभद्रा का सगा भाई था। शालिभद्र दीक्षा लेने के लिये तैयार हुए थे। उनके बत्तीस स्त्रिया थी। प्रतिदिन एक-एक का त्याग करते जाते थे। बहिन को भाई बडा प्यारा होता है। वही भाई अब त्यागी बन रहा है। यह सोच-

कर सुभद्रा की आँखो से आसुओ की धारा बहने लगी। थोडी देर मे उसकी हिचकी बँध गई।

धन्ना ने कारण पूछा। सुभद्रा ने शालिभद्र की बात सुनाई। तब धन्ना सेठ ने कहा–त्याग के मार्ग पर जाना अच्छा ही है। इसके लिये रोना शोभा नहीं देता। लेकिन शालिभद्र को जब त्याग करना है तो एक-एक पत्नी का त्याग क्यो कर रहा है?

सुभद्रा–नाथ! कहना सरल होता है, करना कठिन होता है।

बस, धन्ना को तो निमित्त चाहिए था। वह निमित्त अब मिल गया। उसने कहा—'अच्छा लो, मैंने आठो का त्याग किया।'

सुभद्रा ने बहुत आजीजी की, मगर धन्ना का कथन पत्थर की लकीर था। वह नही बदला।

धन्ना ने दीक्षा ली। सुभद्रा ने सोचा–अब मै ससार में रहकर क्या करूँगी? वह भी साध्वी बनी। इसी प्रकार आठो ने दीक्षा ले ली।

दीक्षा के लिए तैयार होते समय धन्ना ने शालिभद्र से कहा–'चलना हो तो मेरे साथ चलो। पल भर का भी भरोसा नहो है और तुम बत्तीस दिनो का भरोसा किये बैठे हो!'

शालिभद्र भी सुपात्र थे। बहिनोई का वचन सुनकर वह भी चल दिये। इसे कहते हैं–साले-बहनोई का सच्चा सबध

त्यागी बनने के बाद धन्ना ने घोर तप किया । उनका शरीर हाडो का पीजरा हो गया । मृत्यु का समय सन्निकट आने पर आहार-पानी का भी त्याग कर दिया । उसी भव से उन्हे मुक्ति मिली ।

नमन हो वीर धन्ना को !
नमन हो तपस्वी धन्ना को !

समभावी मुनि मेतार्य

मुर्गे में और आप में गिना न किंचित् भेद ।
गये मोक्ष समभाव से मुनि मेतार्य अखेद ॥

मेतार्य मुनि महावीर स्वामी के एक शिष्य थे । चाडाल कुल मे उनका जन्म हुआ था ।

कडाके की धूप पड रही है । सूरज की प्रचड किरणो से धरती तवा की तरह तप गई है । पखी झाडो का सहारा ले रहे हैं । ऐसे समय मेतार्य मुनि गोचरी करने के लिए निकले है । मुनि के पैर नगे और सिर उघाडा है । उच्च, नीच और मध्यम कुलो मे फिरते-फिरते वे एक सुनार के घर गोचारी के लिए जा पहुँचे ।

यह सुनार राजगृही मे प्रसिद्ध कारीगर था । राजा श्रेणिक

भी उसकी कारीगरी पर मुग्ध था। इस समय सुनार अपने घर की दहलान मे बैठा, राजा के लिए सोने के जौ बना रहा था ।मुनिराज को देखकर उसने वन्दना की और श्रद्धा के साथ आमत्रण दिया। फिर वह अपना काम छोडकर मुनि को वहराने के लिए घर मे आहार लेने चला गया । इतने में ही वहाँ एक मुर्गा आया । सोने के जौ को असली जौ समझकर वह मुनि के देखते-देखते निगल गया और 'कुकडूं कूं' करके उड गया ।

सुनार द्वारा दिये हुए आहार को लेकर मुनिराज लौट आये । मुनि के वैराग्य की सराहना करता हुआ मुनार अपनी दुकान में गया । वह बैठने को तैयार हुआ ही था कि उसकी नजर गढ़ कर रखखे हुए सोने के जौ की तरफ गई। पर वहाँ एक भी जौ दिखाई न दिया। जौ गये तो गये कहाँ ? उसने चारो ओर तलाश की। कही नजर नही आये। कही इधर-उधर तो नही रख दिये हैं ? यह सोचकर उसने सारी दुकान ढूंढ ली। फिर भी कही जौ दिखाई न दिये। तो फिर जौ कहाँ चले गये ? अभी-अभी मुनि को आहार देकर आया हूँ। इतनी-सी देर मे कौन ले गया ? मन ही मन सोचकर वह बडबडाने लगा-'अवश्य यह उस मुनि की ही करामत है। वह वैरागी नही कोई ठग होना चाहिए। उसी ने जौ चुराये है।'

यह सोचकर सुनार ने मुनि का पीछा किया। इतने मे ही मुनिराज पास के दूसरे घर से आहार लेकर निकले। सुनार उन्हें फिर अपने घर बुला लाया और गाली गलौज करके अपने जौ माँगे।

मुनि ने सुनार को जैन साधु का आचार-विचार समझाया और कहा—'मैंने तुम्हारे जौ के दाने नही लिये।' लेकिन सुनार को विश्वास नही हुआ। मुनि सोचने लगे—'मैं कह दूंगा कि मुर्गा जौ चुग गया है तो यह मुर्गे को मार डालेगा। मेरा कुछ भी हो, मगर यह बात नही कहूँगा।' मुनिराज को मौन धारण किये देखकर सुनार का वहम और बढ गया। अब उसे गुस्सा भी चढ़ आया। वह गुस्से में पागल होकर मुनि को मारने लगा।

कसौटी तो सोने की ही होती है न? मगर यहाँ तो जड सोने के लिये सजीव सोने की कसौटी हो रही थी। कैसी भयङ्कर कसौटी!

सुनार ने सोचा—'यह बाबा इतने से नही मानेगा। इसे खूब मजा चखाना होगा, तब इसकी अक्ल ठिकाने आएगी। मार के आगे भूत भागते है, यह तो आदमी ही है। बेचारे सुनार को पता नही था कि यह कोई भगोडा भिखारी नही है; यह दिव्य विभूति है? सुनार की अक्ल चक्कर मे पड़ गई थी।

गुस्से मे आकर सुनार ने मुनि के मस्तक के चारो तरफ चमडे की गीली पट्टी लपेट दी और लोहे की कील से बल चढा कर खूब कस दी। मुनि को धूप मे खडा कर दिया। सूरज की धूप से जैसे-जैसे चमडे की पट्टी सूखती गई, वैसे ही वैसे वह सिकुडती गई। मुनि का मस्तक भिचने लगा। नीचे जलती हुई रेती से मुनि के पैरो में छाले पडने लगे।

और मुनि शान्त चित्त से यह सब सहन कर रहे थे।

अभी थोडी देर पहले जिस जगह मुनि का भाव-भक्ति के साथ सन्मान हुआ था, उसी जगह उन्हे मरणान्तिक वेदना सहन करनी पड रही थी। फिर भी मुनि समभाव मे स्थिर थे। इसे कहते है सामायिक!

सुनार मन ही मन कह रहा था—'अब यह साधु जरूर कहेगा कि मैंने जौ लिये हैं।' पर मुनि को कहाँ कुछ कहना शेष रहा था! वे मौन ही रहे। मुनि के लिये मुर्गे का शरीर और अपना शरीर समान था। बल्कि मुर्गे की रक्षा के लिये अपना शरीर दे देना अधिक अधिक उचित लगता था। मुर्गा बेचारा अज्ञान प्राणी ठहरा। उसे देह के प्रति ममता हो, यह स्वाभाविक है, पर मुनि को तो देह की ममता नहीं। उनके लिये मरना और जीना दोनो समान थे इसे कहते हैं समभाव!

जब मुनि ने मुर्गे को अपने समान समझ लिया तो फिर वे उसका नाम कैसे लेते? मुर्गा बच जाता है तो अहिंसा का पालन होता है और मौन रहने से सत्य की भी रक्षा होती है। तो फिर नाशवान् शरीर की क्या परवाह!

श्री मेतार्य मुनि का यह समभाव धन्य है!

मुनिराज को दुस्सह वेदना हुई, लेकिन क्षमा और दया के सागर मेतार्य मुनिराज ने सुनार पर जरा भी क्रोध नही किया घोर वेदना के कारण मुनि की आँखे निकल आईं। शुद्ध भावना बढ़ती गई और उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। थोडी

देर में वे नाशवान् शरीर को त्याग कर, जन्म मरण के चक्र से छूटकर, मुक्ति धाम मे पहुँचे । अब वहा प्राणहीन जड पिंजर मात्र पडा रह गया ।

इसी समय सुनार के घर एक लकडहारा आया । उसने अपने सिर का गट्ठर जमीन पर पटका । उसकी जोर की आवाज से मुर्गाने भयभीत होकर चिरक दिया । सोने के सभी जौ उसके मल मे निकल आये । यह देख सुनार के विस्मय का पार नही रहा । अपनी मूर्खता के लिए वह बहुत पछताने लगा। बिना कारण एक निर्दोष और सत्यवादी मुनि की हत्या के पाप के कारण वह बहुत दुखी हुआ ।

महामुनि मेतार्य की दया और क्षमा धन्य है !



श्रेणिक



नृप प्रसेनजित-पुत्र यह, श्रेणिक चतुर कुमार ।
राजगृही के नृप हुए, नन्दा के भरतार ॥
सती चेलना-संग से, बने वीर के साज ।
करके जिन-सेवा प्रथम होंगे अब जिनराज ॥

अभयकुमार की कथा तुम पढ चुके हो । 'जैसा बाप वैसा बेटा' यह कहावत अपने यहाँ पुराने समय से चली आ

रही है । इस कहावत मे सचाई मालूम होती है । अभयकुमार बुद्धि का सागर था । उसके पिता भी ऐसे ही थे । उसका नाम था श्रेणिक । श्रेणिक के पिता का नाम प्रसेनजित था ।

मगध विशाल प्रदेश है । दो हजार वर्ष पहले यह हिंदुस्तान का मुख्य भाग था । मगध मे कुशाग्रपुर नामक एक नगर था । यह नगर राजा प्रसेनजित की राजधानी ।

राजा के अनेक पुत्र थे । माता पिताजी को सभी बालक प्यारे लगते हैं, मगर होशियार होने के कारण श्रेणिक, राजा को अधिक प्यारा था ।

श्रेणिक बडा हुआ । एक दिन प्रसेनजित ने सोचा---यह लडका मगध का राजा होने योग्य है । देश की प्रजा का पालन यही कर सकेगा ।' यह सोचकर उसने सब लडको की परीक्षा करने का इरादा किया ।

खीर का भोजन बनवाकर राजा ने सबको जीमने बिठलाया । जीमना शुरू हुआ ही था कि राजा ने भयानक कुत्ते छोड दिये । भयानक कुत्तो को देखकर सब राजकुमार घबराकर भाग खडे हुए, मगर श्रेणिक नही भागा । वह अपनी जगह पर ही जमा रहा और खाता रहा । वह अपने भाइयो के छोडे हुए थाल एक के बाद एक कुत्तो के सामने सरकाता रहा । कुत्ते खीर के कटोरे पाकर लप-लप खाने लगे और श्रेणिक भी मजे मे खीर खाता रहा । यह देखकर राजा प्रसेनजित को श्रेणिक के सबंध मे पूरी खातिरी हो गई ।

जिस समय की यह बात है, उस समय वहाँ बडे-बडे जगल थे। लोग लकडियो के घर बनाते और उन्ही में रहते थे। कुशाग्रपुर मे ऐसे बहुतेरे मकान थे। जहाँ लकडी के मकान होते है वहाँ आग लगने की सभावना भी रहती है। इसलिए राजा ने हुक्म निकाला कि जिसके घर मे आग लगेगी उसे नगर छोडकर चला जाना पडेगा।

दुर्भाग्य से राजमहल मे ही आग लग गई। राजा ने कहा—अच्छी-अच्छी चीजे निकाल लो और नगर के बाहर चलो। किसी ने लिये रत्न और किसी ने लिये मोती। मगर श्रेणिक ने ली भभा। युद्धविजय का नगाडा भभा कहलाता है।

राजा ने पूछा—श्रेणिक, भभा क्यो ली है ?

श्रेणिक–पिताजी, मैने तो विजय की निशानी ली है। विजय के विना जिंदगी का मजा ही क्या है ?

पिता ने सोचा—श्रेणिक अवश्य ही एक बडा विजेता होगा। फिर मजाक मे कहा—अब तुझे लोग 'भभासार' कहेगे। यह 'भभासार' शब्द विगडकर 'भभसार' बन गया, 'भभसार' बदलकर 'बिंबसार' हो गया, इतिहास मे 'बिंबसार' राजा का नाम आता है। वह श्रेणिक का ही दूसरा नाम है।

प्रसेनजित राजा बाहर निकले सो निकले। अन्त तक उन्होने अपने वचन का पालन किया। वह कुशाग्रपुर से थोडी दूर जाकर वही रहने लगे। राजा वचन का पालन करे तो प्रजा भी वचन का पालन करती है। यथा राजा तथा प्रजा।

कुशाग्रपुर के लोग ऐसे न्यायी राजा को कैसे भूल सकते थे ? वे लोग बार बार राजा के निवासस्थान पर आने लगे। आपस में कोई पूछता—कहाँ गये थे ? तो लोग उत्तर देते—राजगृह में गये थे। राजगृह अर्थात् राजा का घर। धीरे-धीरे राजगृह के आस-पास वडे-वडे महल और मन्दिर बन गये। बस्ती बढती गई। वह बस्ती एक नगरी हो गई और वह नगरी राजगृही नगरी के नाम से प्रख्यात हुई।

राजा प्रसेनजित अब बूढे हो चले। उन्होने सोचा—'दूसरे कुमारो को थोडे-थोडे गाँव दे दूँ और उन्हे सँभालने के लिए तैयार करूँ, श्रेणिक को फिलहाल कुछ भी न देकर कही बाहर भेज दूं। इससे श्रेणिक का अनुभव बढेगा और दूसरे भाइयो को तसल्ली होगी।' राजा ने इस विचार पर अमल किया।

श्रेणिक, राजा की आज्ञा पाकर बाहर निकला। कहाँ जाना है, यह तो निश्चत था नही, इसलिए वह निरुद्देश्य चलता २ वेणातट पहुँचा। वहाँ वह एक व्यापारी की दुकान पर बैठा। श्रेणिक बहुत भाग्यशाली था। व्यापारी को उस पर बहुत प्रेम उपजा और उसने उसे अपने घर रख लिया, श्रेणिक ने बात गुप्त रक्खी कि वह राजगृही का राजकुमार है। उसने अपने भाग्य के सहारे दुकान बढिया जमा दी। गरीब व्यापारी धन-वान् बन गया। व्यापारी की नन्दा नाम की एक कन्या थी। वह विवाह के योग्य हो गई। व्यापारी ने इस कुमार को ही जामाता बनाने का विचार किया। उसने सोचा—इसके समान होशियार और विनयवान् जामाता मुझे और कहाँ मिलेगा ?'

व्यापारी ने कन्या का विवाह श्रेणिक के साथ कर दिया। उस समय आजकल की तरह जाति-पाँति का भेदभाव नही था। श्रेणिक और नन्दा का जीवन आनन्द के साथ बीतने लगा।

राजगृही के राजा बीमार पडे। उन्होने बडे-बडे वैद्यो को बुलवाया। वैद्यो ने कहा—'अब आपके अतिम दिन आ गये है।' यह सुनकर राजा ने श्रेणिक की खोज करने के लिये चारो तरफ घुड-सवार दौडाये।

एक दूत फिरते-फिरते वेणातट पहुँचा। उसने श्रेणिक को खोज निकाला और राजा की बीमारी का समाचार कहा। 'पिता मृत्यु शय्या पर पडे है और मुझमे उनका मन उलझा है,' यह जान लेने पश्चात् विनयी श्रेणिक घडी भर भी नही रुक सकता था। उसने नन्दा से सब बात कही। नन्दा उस समय गर्भिणी थी। श्रेणिक ने नन्दा से कहा—'प्रिये! मैं अपने पिता की सेवा मे जाता हूँ। यह चिट्ठी अपने पास रहने दो। कभी काम आयगी।' इसके बाद सबकी आज्ञा लेकर श्रेणिक घोडे पर सवार होकर चल दिया।

श्रेणिक राजगृही मे आया। राजा को बहुत प्रसन्नता हुई। राजा ने तो तैयारी कर ही रक्खी थी। अच्छे दिन नगर के महाजनो को और मन्त्रियो को बुलाकर श्रेणिक को राज्यतिलक किया गया। अब कुमार श्रेणिक राजगृही का राजा बन गया। उसने पिताजी की खूब सेवा की। आखिर राजा प्रसेनजित पर-लोक सिधार गये।

अब महाराज श्रेणिक मगध का तन्त्र चलाते हैं। श्रेणिक ने शत्रुओ को भी अपने अधीन कर लिया है। योग्य मत्रियो की नियुक्ति की है। बुद्धि की परीक्षा करके, जो सबसे ज्यादा बुद्धिमान् था उसे मुख्य मंत्री बनाया है। उसका नाम अभयकुमार। अभयकुमार नन्दा का पुत्र था। वेणातट मे दी हुई चिठ्ठी परं से महाराज श्रेणिक अपनी पत्नी नन्दा और पुत्र अभयकुमार को पहचानता है।

श्रेणिक की दूसरी रानी का नाम चेलना था। चेलना के कारण ही राजा श्रेणिक जैन धर्म की तरफ आकर्षित हुए थे। रानी चेलना की बदौलत श्रेणिक का बहुत-से जैन साधुओ के साथ अच्छा परिचय हुआ था। अन्त में श्रेणिक राजा भगवान् महावीर के कट्टर और समर्थ भक्त बन गये थे।



नन्दन मणियार



(१)

पोषध-समय निज धर्म भूला बावड़ी मन में वसी,
अति रम्य पुष्करिणी-सुरचना देखकर मन में लसी।
मर भेक नन्दन था हुआ, जाति स्मरण पर पा लिया,
अन्त में शुभ भाव से फिर स्वर्ग को था पा लिया।॥

जेठ का महीना था। सूरज की धधकती किरणे पृथ्वी पर पड़ रही थी। गरम लू चल रही थी। पक्षी घटदार वृक्षो मे भी अकुला रहे थे। नगर के कोई-कोई लोग ग्रीष्म-गृह के फुहारो का सेवन कर रहे थे और कोई-कोई मकान वन्द करके भोंयरे का शरण ले रहे थे।

ऐसे समय मे नन्दन मणियार पौपधशाला मे वैठा है। वह एक श्रीमत गृहस्थ है। उसके धन का पार नही है। वह जितना धनवन् है उतना ही बुद्धिमान् है। भगवान् महावीर के सत्सग से जैनधर्म के प्रति उसकी रुचि बढ गई थी।

उसने श्रावक के वारह व्रत धारण किये थे। वारह व्रतो मे से ग्यारहवा पौपधव्रत कहलाता है। चौवीस घटो तक उपवास रखना, शरीर का शृगार न करना ब्रह्मचर्य का पालन करना और धर्मस्थानक मे रहकर धर्मक्रिया करना पौषधव्रत कह-लाता है। ऐसे तीन दिन का पौषधव्रत नन्दन मणियार ने ग्रहण किया था।

टेक, व्रत या प्रतिज्ञा लेना धर्म का अग है। यह सत्य है, मगर व्रत लेने के वाद उसका वरावर पालन करना चाहिए साथ मे उसके पालन करने में सयम और श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धा और धीरज सत्सग से वढती है और कुसग से घटती है।

नन्दन मणियार कुसगति मे पड गया था। कहावत है 'सोहवते असर।' सगति का आसर पडे विना नही रहता। इस कथन के अनुसार नन्दन की श्रद्धा इन दिनो कुछ कम हो गई थी।

नन्दन ने पौषधव्रत ग्रहण किया था। उसने दो दिन ता कठिनाई से निकाल दिये। तीसरे दिन उसे बहुत प्यास लगी। वह मन ही मन सोचने लगा—'बावडी हो तो उसे भी खाली कर दू और अपनी प्यास बुझाऊँ।' यो करते-करते किसी प्रकार तीन दिन निकल गए। उसका शरीर धर्मस्थानक मे रहा और मन बावडी में रहा।

पौषध पार कर वह राजा श्रेणिक के पास गया। जाकर उसने कहा—'महाराज! नगरी के बाहर, वैभार पर्वत के पास बावँडी खुदवानी है। आज्ञा दीजिए।'

राजा ने कहा—मेरी आज्ञा क्यो नही होगी? खुशी से बावडी खुदवाओ प्रजा पानी पीएगी और आशिर्वाद देगी।

थोडे दिनो मे बावडी तैयार हो गई। उसका नाम रक्खा गया—'नन्दनपुष्करिणी।' बावडी बडी सुन्दर थी। लोग देखते-देखते अघाते नही थे कैसी समचौरस! कैसी काठे वाली! और इसकी सीढियाँ कितनी सुन्दर है।

थोडे दिनो बाद उसमे कमल उग गये। रग-बिरगे कमलों की सुगन्ध से भौंरे ललचाने लगे। भौंरो की गुजार से बावडी गूंजने लगी। बावडी के किनारे केले का वृक्ष उगा। लोग आते और पानी पीते, फूलो की सेज पर सोते और जल में जलक्रीडा करते। नन्दन मणियार अपनी तारीफ सुनकर फूला न समाता।

थोडे दिन और बीतने पर नन्दन मणियार ने बावडी के चारों ओर सुन्दर बगीचा लगाने का विचार किया । उसने चारो दिशाओ मे चार वन बनवाये । वनो मे तरह-तरह के फूल लगे भाति-भाति के फल और नाना प्रकार की बेले लगी । नगर के लोग वनो मे घूमने आते और स्नान करते । नन्दन मणियार का बखान भी करते यह सब देख सुन कर नन्दन मणियार को गर्व हुआ ।

नन्दन सोचने लगा—अगर इन लोगो को ज्यादा सुविधा पहुँचाऊँगा तो लोग मेरी और ज्यादा तारीफ करेगे। तब उसके चारो तरफ चार धाम बनाये। एक तरफ चित्रशाला, दुसरी तरफ पाकशाला, तीसरी तरफ वैद्यशाला और चौथी तरफ अलंकारशाला ।

चित्रशाला में तरह–तरह के और सुन्दर रगो वाले चित्रों के छोटे–बडे तख्ते सुशोभित हो रहे थे। उसमे लकडी के खिलौने भी थे। मिट्टी की भाति-भाति की आकृतियाँ बनाई गई थी। तरह-तरह का कारीगरी का काम किया हुआ था। सगीतज्ञ लोग सगीत की तान छेडे रहते। नृत्यकार अपना नृत्य दिखलाते। नन्दन मणियार ने ऐसी सुन्दर व्यवस्था कर रखी थी।

पाकशाला मे भाति-भाति का भोजन तैयार होता था। वहाँ अतिथियों को भोजन मिलता था। वैद्यकशाला में चतुर वैद्य रहते थे और प्रवासी रोगियो का मुफ्त उपचार करते थे। अलकारशाला मे कुशल नाई और सेवक काम करते थे ।

नन्दन माणियार का नाम अब खूब प्रसिद्ध हो गया। लोग उसे धन्य-धन्य कहने लगे। इस कारण नन्दन की आसक्ति बढती ही जाती थी। नन्दन मणियार जनता की सेवा करता था, मगर उस सेवा में कीर्त्ति की कमना थी।

एक बार नन्दन मणियार बीमार हो गया। देश-देश के वैद्य इलाज करने आये। मगर उसको मृत्यु निकट आ गई थी नन्दन मृत्यु के बिछौने पर पडा था, मगर उसका मन अब भी पुष्करिणी में ही था। 'मेरी बावडी, हाय मेरी बावडी' करते करते ही उसके प्राण-पखेरू उड गए।

'जैसी मति वैसी गति।' नन्दन मणियार मरकर मेंढक हुआ। वह नन्दन पुष्करिणी मे टर्र-टर्र करने लगा। वह कूदता फुदकता और मौज करता।

बालको! मरते समय जो 'धन धन करता है, वह मर कर धन की रखवाली करने वाला साँप होता है। भरत मेरा हिरन, हाय मेरा हिरन' करते-करते ही हिरन हुआ था। इस लिए मरते समय प्रभु का भजन करना चाहिए।

अत समय में जो भक्ति रखता है, उसी का मरण सुध रता है।

नन्दन ने काम तो लोकोपयोगी किया, मगर बावडी मे प्रबल आसक्ति होने से तथा कीर्ति की कामना होने से उसे उसी वाबडी में मेढक होना पडा। आसक्ति का फल ऐसा होता है।

नन्दन मणियार



(२)

नन्दन मणियार मेंढक के रूप में, बावडी में फिरता रहता है। एक बार वह मेंढक बावडी के किनारे आया। पास में कुछ लोग खडे थे। उनके वचन मेंढक के कान मे पडे। पर मेंढक मनुष्य की भाषा मे क्या समझे! फिर भी उसमें पूर्वजन्म के कुछ अच्छे सस्कार थे। उसने भगवान् के सत्सग का लाभ लिया था। निमित्त मिलने पर वह सत्सग फला। मेंढक को लगा कि-'ऐसी भाषा तो मैंने पहले भी कही सुनी थी!'

इस तरह का विचार करते-करते उसे अपना पिछला भव याद आ गया।

अपने पूर्वभव को याद करके वह भीतर ही भीतर पछताने लगा। वह सोचने लगा—'एक समय मै मनुष्य था। श्रेष्ठ था। भगवान् महावीर का श्रावक था। बावडी की आसक्ति के कारण मै मेंढक हुआ!'

इस प्रकार पछता कर उसने बावडी में से निकलने का विचार किया। मेंढक होकर भी वह यथाशक्य धर्म और सयम का पालन करने लगा। उसने चाहे जिस जतु को मारना और त्रास देना त्याग दिया। अब वह पानी को भी इस तरह पीता था कि कोई जीव मर न जाय।

वह बार-बार उपवास भी करने लगा। इस प्रकार मेंढक होने पर भी उसने अपना जीवन सफल बना लिया।

एक बार लोगो की बातचीत से उसे मालूम हुआ कि गुणशीलक चैत्य में भगवान् महावीर स्वामी पधारे हैं। उसे भगवान् का दर्शन करने की इच्छा हुई और वह उसी समय जल्दी-जल्दी चल दिया।

उधर भगवान् का दर्शन करने के लिए राजा श्रेणिक की सवारी निकली। बेचारा मेंढक उस सवारी की झपट में आ गया। आंते बाहर निकल पडी। मेंढक मर गया।

इस बार मरते समय उसके मन में बावडी नही थी, बल्कि भगवान् महावीर थे। उसने भगवान् को भजते-भजते देह छोडा। इस कारण अब की बार वह देव हुआ।

दर्दुरावतसक विमान में से वह कई बार भगवान् महावीर के दर्शन करने आया करता था। उसने मरते समय साधुता का विचार किया था इस कारण यह देव मरकर महाविदेह क्षेत्र में उपजेगा और मोक्ष प्राप्त करेगा।

जम्बू स्वामी



श्री सुधर्माचार्य के उपदेश से उपरत हुए,
होकर विवाहित युवा भोगों मे कदापि न रत हुए।
अप्सरा–सी आठ वधुओं को दिया अवबोध है,
प्रभव जैसे चोर ने भी पा लिया शुभ बोध है।
ऐसे त्यागी वीरवर, ज्ञानी जम्बूकुमार,
पाकर केवलज्ञान को गये भवोदधि पार ॥

गुरु गौतम के विषय में तुम जानते ही हो। भगवान् महावीर के ग्यारह बडे शिष्य गणधर कहलाते थे। साधुओ के गण को–समूह को–सँभालने वाले गणधर कहे जाते हैं। उन सब में पहले गणधर गौतम स्वामी थे। गौतम का जब निर्वाण हुआ उससे पहले ही दूसरे तीन गणधर कालधर्म पा चुके थे। इसलिए गौतम के बाद सुधर्मास्वामी संघ के नायक गिने गये।

जैसा उनका नाम था वैसे ही उनमें गुण भी थे। वे समता के सागर और ज्ञान के भण्डार थे। सत्य धर्म का प्रचार करने के लिये उन्होंने कमर कस कर मिहनत की थी।

एक बार विचरते-विचरते सुधर्मास्वामी वैभारगिरि पर पधारे। वनपाल की आज्ञा लेकर वे वन मे रहे। साथ में हजारो शिष्य थे। कोई ध्यान कर रहा था, कोई तत्त्वचर्चा कर

रहा था और कोई गुरुजी से प्रश्न कर रहा था। कोई तपस्वियो की तथा बडे मुनियो की सेवा करता था। जहाँ ऐसे सत बसते है, वहाँ स्वर्ग-सा लगता है।

राजगृही नगरी यहाँ से बहुत दूर नही थी। वहाँ के राजा का नाम कोणिक था। वह श्रेणिक महाराजा का पुत्र था।

यह नगरी बहुत विशाल थी। उसमे गुणीजनो का वास था। सेठ-साहूकार भी बसते थे। उनमे से एक का नाम ऋषभदत्त था। उनकी पत्नी की कूख से एक पुत्र का जन्म हुआ। इकलौता पुत्र होने के कारण वह माता-पिता को बहुत लाडला था। उसका नाम जम्बू था।

धीरे-धीरे जम्बूकुमार सोलह वर्ष का हो गया। जगह जगह से विवाह की मँगनी आने लगी। माता--पिता ने आठ कन्याओ के साथ उसकी सगाई कर दी क्योकि उस समय कन्याएँ बहुत थी और पुरुषो की कमी थी। 'मेरे घर आठ बहुएँ आएँगी' इस विचार से माता का हर्ष समाता नही था। उसने विवाह की तैयारिया आरम्भ कर दी।

लग्न का दिन दिखलाया गया। थोडे ही दिन बाकी थे। मगलगीत गाये जा रहे थे। धूमधाम के साथ तैयारियाँ हो रही थी।

आज कुमार हिडोले पर चढकर झूल रहे थे। सोने की खाट है। हीरो की डोरी है। उसी समय उन्हे बधाई मिली—सुधर्मास्वामी पधारे है और नगर के लोग तथा महाजन गुरु के दर्शन के लिए जा रहे हैं।

जम्बू भी गुरु के पास गये। अहा! क्या उनका प्रभाव है! कैसा भीतर तक असर करने वाला उनका उपदेश है! उस दिन सुधर्मास्वामी ने ब्रह्मचर्य के विषय में चर्चा की।

जम्बू ने उपदेश सुना और एकदम उसका प्रभाव पडा उन्हे क्षणिक मोह मे डूब जाना रुचिकर नही हुआ। श्रोता तो वहुत थे। मगर हरएक मे फर्क था। जम्बू ने पूर्वभव में तप किया था, इसी कारण उनके ऊपर अच्छा असर पडा।

जम्बूकुमार घर आये मगर मन उनका फिर गया। उन्हे न अच्छे-अच्छे कपडे रुचे ओर न मजा-मौज ही रुचिकर हुआ। उन्हे तो वस सुधर्मास्वामी ही याद आने लगे।

माता-पिता ने पूछा—वेटा! इस सयम तू उदास क्यो है?

जम्बू ने दिल खोलकर कहा—पूज्यो! और कुछ नही इस ससार से मेरी तवीयत उठ गई है। विवाह की मुझे रुचि नही है। मैं ब्रह्मचर्य पालकर अपने जीवन को चमकाऊँगा।

माता-पिता ने सोचा—लडके को वुरा न लगने दें और गृहस्थी मे जोड दे। विवाह हो जायगा तो ससार मे मन लगने लगेगा।

माता-पिता ने कहा—वेटा! विवाह कर ले। इतनी सी वात हमारी मान ले। फिर हम तुझे नही रोकेंगे। अपनी स्त्रियो की आज्ञा लेकर जो चाहे, करना।

जम्बू ने कहा—वहुत अच्छा। मैं आपका कृतज्ञ हू, इसलिए इतनी वात अवश्य मानूंगा। मगर मेरे साथ जो

कन्याएँ विवाह करने वाली है, उन्हे पहले ही जता देना।

विवाह करने वाली आठो कन्याएँ सखियाँ थी। यह बात उनके कानो तक पहुँची। कन्याओ के माता-पिता सोच विचार में पड गए।

कन्याओं ने कहा——आप चिंता न करे। हम कुमार को समझा लेगी।

इन भोली कन्याओ को पता नही था कि जम्बूकुमार को समझाने जाएँगी तो खुद को ही समझना पडेगा।

धूमधाम के साथ विवाह हो गया।

विवाह के बाद पहली ही रात है। आठ स्त्रियो के बीच जम्बूकुमार बैठे हैं। जवानी की उम्र है। एकान्त है। अप्सराओ के समान स्त्रियाँ है। मोह पैदा करने वाली कमरे की सारी सामग्री है। स्त्रियाँ प्रार्थना कर रही हैं। ऐसी परिस्थिति में बडो-बडो का मन डिग जाता। पर धन्य है जम्बूकुमार, जिनका मन तनिक भी नही डिगता। कैसा आदर्श सस्कार हैं!

सभी स्त्रियाँ मनाकर थक गई और अन्त मे सो गई। अकेले जम्बूकुमार जाग रहे हैं। प्रात काल ही सुधर्मास्वामी से उन्हें दीक्षा लेनी है।

जम्बूकुमार को पता चला कि उनके घर में चोर घुसे हैं और गठरियाँ बाँध-बाँध कर धन ले जा रहे है। जम्बूकुमार ने सोचा—मुझे धन जाने की तो परवाह नही है। मगर लोग कहेंगे कि घर में चोरी हो जाने के कारण हजरत को वैराग्य सूझा

है। और इसी कारण साधु बन रहे हैं! खैर, इस अपवाद की भी चिन्ता न की जाय; मगर लोग अन्याय का यह धन्धा क्यों करते हैं? इन्हें समझाया क्यों न जाय? इस प्रकार सोचकर जम्बूकुमार चोरों के पास गये। चोरों के मुखिया का नाम प्रभव था। बात-चीत होने पर प्रभव ने अपनी कहानी सुनाई।

उसने कहा— मैं एक राजकुमार था। भाई के साथ कलह होने के कारण मैंने घर का परित्याग कर दिया और जबर्दस्त चोर बन गया। शक्ति मुझमें थी ही, उसका उपयोग इस दिशा में होने लगा। धीरे धीरे मेरी धाक ऐसी जम गई कि मेरा नाम सुनते ही बालक चुप हो रहते। मेरी ऐसी धाक गाँव भर में जम गई थी, मगर चोर सदा डरपोक होता है। पकडे जाने का डर उसे लगा रहता है।

जम्बू, प्रभव के पास गए। प्रभव को भय हुआ कि मैं पकडा जाऊंगा। जम्बू ने कहा— भाई, डरो मत! यह बतलाओ कि तुम ऐसा खराब धन्धा क्या छोड नही सकते?

जम्बूकुमार के यह मधुर वचन सुनकर प्रभव ने अपने अपराध के लिए क्षमा माँगी। उसके साथी भी पोटलियाँ नीचे रखकर बैठ गये। आवाज सुनकर आठो स्त्रियाँ जाग उठी और फिर जम्बूकुमार से कहने लगी—'नाथ! क्या हम सब को त्याग जाओगे?'

जम्बू ने कहा—तुम सब भी चलो न!

स्त्रियाँ बोली—कुछ समय तक संसार में रहकर, संसार

म्बन्धी भोग भोगकर फिर दीक्षा ले।

जम्बू–ससार के भोग तो पत्थर के समान है। उसमे ह बन्दर फँसा और बेचारे को प्राण देने पडे। हम लोग समझदार है। ऐसा करना क्या हमें शोभा देता है ?

अब प्रभव और उसके साथी चोरो को भी इसबातचीत में मजा आने लगा। जम्बू का सत्सग उन्हे आनन्ददायक लगा।

प्रभव ने कहा—जरा बन्दर की कहानी तो सुनाइए ?

जम्बू–हाँ, सूनो। एक बन्दर था। वह बहुत-सी बन्दरियो के साथ जगल मे रहता था। फल खाता, झरनो का पानी पीता और मौज करता था। कुछ दिनो बाद वह बूढा हो गया।

एक बार अजनवी जवान ब दर वहाँ आया। वह खूबसूरत था और जवान था। इस कारण बन्दरियो को वह बहुत पसन्द आया। सब ने मिलकर बूढे बन्दर को भगा दिया। वह बेचारा जाना नही चाहता था, पर लाचार। करता क्या ? उसे जाना पडा। चलते-चलते उसे पहाड मिला। बूढा बन्दर बहुत प्यासा था। उसने वहाँ शिला-रस झरता देखा। समझा यह पानी है। विचार किये बिना ही वह पास मे गया और उसमें मुंह लगा दिया। उसी समय उसका मुँह उसमे चिपक गया। उसने हाथ टेक कर मुंह निकालने की कोशिश की तो हाथ भी चिपक गये। पैर भी चिपक गये। अन्त मे हाय-हाय करते मर गया।

ससार की माया भी ऐसी ही है। इसमे जो फँस जाता है सो निकल नही पाता। अब निकलू, अव निकलू करते-करते वह ज्यादा-ज्यादा फँसता जाता है। मौत आने पर वह मरता है और फिर जन्म लेता है।

प्रभव ने ऐसी बाते पहली बार ही सुनी थी। उसे वैराग्य हो गया। वह कहने लगा--'आप मेरे गुरु और मैं आपका चेला। अब जहाँ आप वही मै!' प्रभव के साथियो ने भी ऐसा ही निश्चय किया।

जम्बूकुमार की स्त्रियाँ भी वैराग्य के रँग मे रँग गई। अच्छा खासा सघ बन गया। भोर हुआ। माता-पिता से आज्ञा माँगने गये। उन्होने सहर्ष आज्ञा दी और खुद भी तैयार हो गये।

यह बात राजा कोणिक को मालूम हुई। जम्बू जैसे जवान सेठ का दीक्षा लेना कैसे पोसा सकता है? उसने रोकने की बहुत कोशिश की, मगर जम्बूकुमार को अब कौन रोक सकता था?

प्रभव के साथी ५०० थे। वे सब मिलाकर ५२७ जनो की एक ही साथ दीक्षा हुई। ऐसा बडा उत्सव राजगृही मे पहले कभी नही हुआ होगा।

सब मिलकर सुधर्मास्वामी के पास पहुँचे। सब ने साधु-जीवन की प्रतिज्ञाएँ ली। वे इस प्रकार हैं–

साधु--जीवन की प्रतिज्ञाएँ

१) सभी छोटे-मोटे जीवो को अपने समान समझूंगा।

२) प्राणपण से सत्य का पालन करूँगा।

३) दी हुई वस्तु ही लूंगा ।

४) जीवनपर्यन्त पूर्ण शीलव्रत पालूंगा ।

५) किसी भी वस्तु पर मोह नही रक्खूंगा और परिग्रह नही करूंगा ।

६) देख-देखकर पैर रक्खूंगा ।

७) सोच-विचार कर बोलूंगा ।

८) शुद्ध भिक्षा और वस्त्र ही लूंगा ।

९) वस्तु के धरने–उठाने मे विवेक रक्खूंगा

१०) शुद्धता और अहिंसा का पालन हो, इस प्रकर मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थों का त्याग करूंगा ।

११) मन से अच्छे विचार करूँगा ।

१२) वचन पर अकुश रखकर, वाणी का दुरुपयोग न करके, आवश्यकता के अनुसार ही बोलूंगा ।

१३) निष्कामभाव से निर्दोप काम ही करूंगा ।

इन प्रतिज्ञाओ मे पाँच महाव्रतो, पाँच समितियो और तीन गुप्तियो का सार आ जाता है ।

सभी ने यह प्रतिज्ञाएँ ली । तलवार की धार पर चलना सरल है मगर सदैव इन व्रतो का पालन करना कठिन है ।

जम्बूस्वामी ने बराबर इन व्रतो का पालन किया और शास्त्र का खूब ज्ञान प्राप्त किया । सुधर्मास्वामी के निर्वाण के बाद यही सकल जैनसघ के नेता बने । उसके बाद उन्होने भगवान् महावीर के उपदेश का प्रचार किया । अनेको को तारा । इस

प्रकार अपना और जगत् का कल्याण करते-करते, शुद्ध ध्यान करते हुए उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । अन्त मे निर्वाण प्राप्त हुआ ।

जैन ग्रथो का कथन है कि सब से अन्त मे जम्बूस्वामी को ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ । उनके बाद फिर कोई केवली नही हुआ ।

राज्य सरीखी ऋद्धि के त्यागी जम्बूस्वामी धन्य हैं !

अप्सरा सरीखी सुन्दरियो से विचलित न होनेवाले धन्य हैं !

प्रभव जैसे महान् चोर को बोध देने वाले धन्य हैं !

धर्मध्यान मे मग्न होकर केवलज्ञान पानेवाले धन्य हैं !

ऐसे सच्चे त्यागी ही जैनशासन को सुशोभित करते हैं ।



सम्राट् सम्प्रति



नृप अशोक के पौत्र वह, नृपति कुणाल-कुमार,
सार्वभौम राजा हुए, सम्प्रति अति सुखकार ।
माता के उपदेश से, पाया धर्मोल्लास,
आर्य हस्ति की शरण ले, पर-हितक्रिया प्रकाश ॥

पाटलीपुत्र मे एक सूरदास आया है । वह ऐसे भजन ललकारता है कि सुनकर आत्मा जाग उठती है । सारा पाटली

पुत्र उसके पीछे पागल हो उठा है। अमीर उमराव उसे आमन्त्रित करके बुलाते है । धनवान् उसका स्वागत करते है । प्रकृति की कैसी देन है ! लोग खुश होकर अच्छी-अच्छी भेंट देते हैं। तब सूरदास कहता है—'दौलत नही, दिल चाहिए ।' और वह मस्ती के साथ नगर में घूमता है। बालक, बूढे और जवान उसके पीछे-पीछे फिरते है ।

पाटलीपुत्र के महाराजा अशोक को खबर लगी । अशोक बौद्धधर्म का स्तम्भ था । अशोक अर्थात् नीतिपालक नरपति ।

अशोक की ओर से सूरदास को निमत्रण मिला । दोपहर ढल गई है । मत्री, महाराज और नगर जन, सब समय से पहले आ पहुँचे हैं । राजरानियाँ, दासियाँ और नगर की प्रतिष्ठित नारियाँ अपने-अपने स्थान पर अवस्थित हैं । थोडी देर में सूरदास भी दरबार मे आ पहुँचा । महाराज सूरदास से कुछ दूर बैठे थे । सूरदास की माँग के अनुसार बीच में सफेद चादर का एक पर्दा रक्खा गया था ।

सूरदास ने भजन की शुरुआत की । देखते ही देखते वातावरण शान्त हो गया । महाराज उसके भजनो में एकतार हो गये। भजनो में न जाने कैसा रस था कि पीते--पीते सतोष ही नही होता था ।

समय पूरा हुआ और भजन बन्द हो गए । फिर भी सभी के कानो मे भजनो का नाद गुंजता रहा । राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—कहो सूरदास ! क्या दिया जाय ?'

सूरदास ने कहा– इस सू:दास को पैसे की भूख नही है। फिर भी अगर तुम्हे देना ही है तो माँगता हूँ। मुझे 'काकिणी' चाहिए ।'

सूरदास की इस माँग को सुनकर मत्रीगण चकित रह गये। उल्लास के वातावरण मे सहसा उदासी व्याप्त हो गई।

काकिणी अर्थात् अशोक का साम्राज्य। जैसे विश्वामित्र ऋषि ने राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा की थी वैसी ही यह परीक्षा तो नही है ? सभी लोग चिन्ता मे निमग्न हो गये।

• अव भेद खुल गया था। यह सूरदास और कोई नही, सम्राट अशोक का ही पुत्र कुणाल था। सोलहवे वर्ष मे वह अधा हो गया था उसने संगीत की विद्या प्राप्त की थी। प्रभु के भजन मे चित्त लगा दिया था।

अशोक के दो पुत्र थे। एक कुणाल, दूसरा महेन्द्र। महेन्द्र ने दीक्षा ले ली थी। इसलिए अशोक को चिंता वनी रहती थी कि गद्दी पर किसे विठलाया जाय ? अव पता चला कि यह सूरदास मेरा ही पुत्र है। और उसने पुत्र सम्प्रति के लिए ही राज्य की माँग की है। अशोक का मनचाहा हुआ। मेरे लडके का लडका गद्दी पर वैठेगा, यह जानकर अशोक के हर्ष का पार न रहा।

अशोक ने नगर में घोपणा करके सप्रति को गद्दी पर विठलाया।

अशोक मगधराज श्रेणिक के समान राजा था। पश्चिम

में काठियावाड से लगा कर ठेठ हिमालय की तलहटी तक उसके राज्य की सीमा थी। उत्तर पूर्व मे पुरी से लेकर दक्षिण आध्र प्रान्त तक उसका राज्य फैला था।

अशोक ने अपनी मृत्यु से पहले सम्प्रति को अवन्तीराज बनाया और फिर उसकी मृत्यु हो गई।

अवन्तिराज सम्प्रति

योग्य उम्र होने पर सम्प्रति राजसिहासन का अधिकारी हुआ। उसने अपनी भुजाओं के बल से राज्य की खूब वृद्धि की नेपाल और भूटान तक का प्रदेश अपने अधिकार में किया। कई छोटे-बडे राज्यों को जीता। सभी लोग उसकी प्रशसा करते थे।

एक वार सप्रति की माता शरद्श्री ने संप्रति की प्रशसा सुनी। जैसे और-और माताएँ अपने पुत्र की प्रशसा सुनकर प्रसन्न होती हैं उस प्रकार शरद्श्री प्रसन्न नही हुई। एक दिन उसने पुत्र से कहा—'बेटा! बाहर के बहुत से प्रदेशो को तूं ने जीत लिया है, मगर अभी अपने मन को जीतना तो बाकी रह गया है।'

महाराजा सप्रति अपनी माता से बहुत प्रेम करते थे। वह माता की बात को भली-भाँति समझ नही सके। उन्होने कहा—'माताजी! फिर बतलाओ मुझे कौन-सा प्रदेश जीतना रह गया है? मैं उसे जीतने का प्रयास करूँगा।'

माता ने हँसकर कहा—'पुत्र! तूं ने राजाओ को अपने

आधीन किया है और भूमि-प्रदेशो को जीता है, मगर हृदय-प्रदेश के मोह राजा को तूं ने अभी तक नही जीता है।' सप्रति अव समझ गया। तभी से उसने धर्म की ओर ध्यान देना आरम्भ किया।

ऐसी समझदार माता धन्य है! और ऐसी आज्ञापालक सतान भी धन्य है!

माता का आशीर्वाद मानो फलीभूत हुआ और स्थूलभद्र के शिष्य श्रीआर्यहस्ती तथा अन्य मुनिराजो के साथ उसका परिचय हुआ। फूल में सुगध की तरह उसे जैनधर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। वह साधुसतो की सेवा करने लगा।

अपने कर-दाता राजाओ के पास संप्रति ने खबर भेजी कि मुझे तुम्हारे धनभण्डार की आवश्यकता नही है। अपनी प्रजा को धर्मज्ञान दो। साधुसतो को विनय के साथ नमस्कार करो और उनकी सेवा करो। मुझे प्रसन्न करने का एक मात्र यही मार्ग है

सप्रति ने अनेक धर्मशालाएँ वनवाई और अन्नशालाएँ खोली। वावडियाँ वनवाकर प्रजा का जल-कष्ट मिटाया। उपाश्रय और पौषधशालाओ का निर्माण कराया। मदिर बंधवाये। तालाव का पानी नहर के रास्ते पहुँचाने की, अशोक महाराज द्वारा आरंभ की हुई योजना को कार्य रूप मे परिणत किया।

सप्रति राजा ने अन्यान्य देशो मे भी उपदेशक भेजकर धर्म फैलाया और इस तरह धर्म की महान् सेवा की।

ऐसे होते है राजा! ऐसे धर्मप्रेमी राजाओ का स्थान

प्रजा के मन में रहता है। धन के लोलुप राजा प्रजा के हृद स्थान नही पा सकते । धन के लुटेरे राजाओ के लिए 'रा सो नरकेश्री' कहावत लागू होती है । सप्रति अन्त मे बीमार और किसी उपाय से न बच सके ।

सम्राट् सप्रति मरकर भी अमर हैं ।
जिसके काम अमर उसका नाम अमर ।
अशोक राजा बौद्ध-सघ में अमर है ।
श्रेणिक राजा जैन-सघ में अमर है !
सप्रति राजा सभी की तरह अमर है ।
धन्य, संप्रति महाराज धन्य हैं !



सती सुभद्रा



जिनदास मन्त्री की सुपुत्री श्रीसुभद्रा नाम है,
शुभ शीलवंती धर्मवंती विनयशील ललाम है ।
मुनि-नयनसे कण काढते माथे कलक चढा अहो !
पर शील के सुप्रभाव से वह नष्ट क्यों नहिं हो कहो ?

सोलह सतियो के नामो में सुभद्रा सती का भी नाम है। सुभद्रा का अर्थ है—सुन्दर कल्याण वाली।' सचमुच सुभद्रा मे

नाम अनुसार ही गुण भी मौजूद थे ।

वसतपुर नमक नगर मे जितशत्रु राजा राज्य करता था उमके प्रधान मत्री का नाम जिनदास था। वह भी यथा नाम तथागुण था। कितने ही लोग कहलाते तो जिनदास है मगर होते है धनदास या लक्ष्मीदास। किन्तु जिनदास वास्तव में जिनदास था। वह सत्य बोलता और सत्य का ही आचरण करता था। दयालु और सतोषी था। राजा और प्रजा के प्रेम की रक्षा करता हुआ न्याय करता। उसका वर्त्ताव ऐसा शुद्ध था।

सुभद्रा में इस तरह के ऊंचे संस्कार थे। शीलका गुण उसके जीवन मे व्यापा हुआ था। सतो और सतियो की सेवा मे उसे आनन्द आता था।

कन्या वडी हुई तो योग्य घर तलाश कर दिया गया। माता पिता ने गहनो के वदले सस्कार दिये।

सुभद्रा ससुराल गई। उसके सुसराल मे बौद्धधर्म का पालन होता था। सुभद्रा के पति की रुचि भी उसी ओर थी। मनुष्य किसी भी धर्म का पालन करे मगर उसका खोटा अभिमान करना और अपने कर्त्तव्य को भूल जाना बहुत बुरी बात है।

सुभद्रा का स्नेह और विनय देखकर सभी उसका आदर करते थे। सुभद्रा और उसके पति वुद्धदास का प्रेम दिनोदिन वढता जाता था। पर सुभद्रा की सासको बौद्ध होने के कारण जैन साधुओ का आना-जाना अच्छा नहीं लगता था। सुभद्रा

को वह कह नही सकती थी इस कारण मन ही मन कुढती और जलती रहती थी। ईर्प्या और द्वेष मनुष्यता को भी कम कर देते हैं और अन्त मे मनुष्य अपनी मनुष्यता को गँवा बैठता है।

एक दिन मौका पाकर बुद्धदास की माता ने उससे कहा—देख अपनी स्त्री का चरित ! अब तो मानेगा कि नही ?

बुद्धदास देहली पर पैर रख ही रहा था। उसी समय माता ने यह वचन–वाण चला दिये ! बुद्धदास ने देखा घर मे से निकलनेवाले जैन साधु के कपाल पर कुकुम का दाग लगा हुआ है।

माता हमेशा बुद्धदास से झूठी–झूठी बाते भिडाया करती थी। वह कहती सुभद्रा का चालचलन खराब है। पर बुद्धदास यह मान नही सकता था। पर जब उसने साधु के कपाल पर कुकुम का दाग अपनी आँखो देख लिया तो उसे भी सदेह हो गया। और जब सुभद्रा के ललाट पर भी उसने कुकुम का टीका देखा तो सदेह पक्का हो गया।

सच्ची बात इस तरह थी। तप का पारणा करने के लिए मुनि पधारे थे। सुभद्रा ने बडी भक्ति के साथ आहारदान दिया। आहार देते समय सुभद्रा ने देखा--मुनि की आँख से जमीन पर बूंद पडा है। सुभद्रा ने मुनि की आँख की तरफ देखा। आँख में कण पडा हुआ था। मुनि को अपने शरीर की परवाह नही थी। मगर भक्ति के कारण सुभद्रा मुनि का यह कष्ट न देख

सकी । उसने मुनि से प्रार्थना करके, जीभ के द्वारा आँख में से कण निकाल लिया । कण निकालते समय सुभद्रा का कपाल मुनि के नजदिक आ गया और सुभद्रा के ललाट पर लगे हुए कुंकुम का दाग मुनि के कपाल पर लग गया ।

मुनि तो देह-दशा से मुक्त महायोगी थे। सुभद्रा भी एक महासती थी । उसने छूने के लिए मुनि को नहीं छुआ था। मगर सास को तो बहाना चाहिए था और वह आज मिल गया । धर्म-द्वेष कितना अनर्थ उत्पन्न करता है ?

सुभद्रा को झूठा कलक लगा दिया । बुद्धदास ने भी पूछ-ताछ किये बिना ही कह दिया—'कुलटा कहीं की, निकल जा मेरे घर से' और उसने सुभद्रा को जबरदस्ती घर से बाहर निकाल दिया । सुभद्रा बाहर जाकर खडी हो गई । सास ने गाँव भर में ढिंढोरा पीट दिया और लोगों का झुण्ड जमा हो गया ।

सुभद्रा ने, सच्चे दिल से बुद्धदास को ही अपना पति माना था । उसकी दृष्टि मे अन्य पुरुष पिता और भाई के समान थे । ऐसी पवित्र सती की ऐसी दुर्दशा हुई ! और सब कुछ सहन किया जा सकता है मगर कलक कैसे सहन किया जाय ? गाँव भर में बातें होने लगी । इस तरह की चर्चा मे लोगों को बहुत मजा आता है । उन बेचारों को क्या पता कि दूसरे की झूठी निंदा करने से कितना महान् पाप बँधता है ! और उस पाप को भोगते समय कितना कष्ट भोगना पड़ता है । 'सत्य बात

जानकर खराब आदमी को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए।' ऐसा नियम तो महान् पुरुष और स्त्रियाँ ही जानती है।

पर सुभद्रा समझदार स्त्री थी। उसने अपने भाग्य का ही दोष समझा। उसने किसी की वात पर कान न देकर निर्णय किया—मुझे यह कलक धोना ही पडेगा। जब तक मेरा कलक दूर न होगा, मै अन्न पानी ग्रहण नही करूँगी।

मस्तक पर धूप गिर रही है। भूक से पेट कुनमुना रहा है। पानी के बिना गला सूख रहा है। फिर भी सुभद्रा शान्ति के साथ खडी है। मन में प्रभु का नाम रट रही है, मुख में भी प्रभु का ही नाम है। सती की परीक्षा पूरी हुई। उसके कानो मे आकाशवाणी सुनाई दी—

'सती ! तेरा कलक कल धुल जायगा। चिंता मत कर।'

सुभद्रा ने शाति के साथ रात्रि व्यतीत की। सुबह हुआ द्वारपाल नगरी के दरवाजे खोलने लगे। उन्होने खोलने की वहुत कोशिश की, सारा जोर लगा दिया, मगर किवाड नही खुले। हार मानकर वे राजा के पास दौडे गये। नगर के लोग भी घबराये। लाख कोशिश करने पर भी नगर के दरवाजे खुलने का नाम नही लेते।

थोडी देर में आकाशवाणी सुनाई दी—'कोई सती स्त्री, कच्चे सूत से, चालनी से, कुएँ का पानी खीच कर दरवाजो पर छिडकेगी तो दरवाजे खुलेगे।'

राजा ने इसी आशय का ढिंढोरा पिटवा दिया। सुभद्रा

अपनी सास से आज्ञा माँगने गई तो सास क्रोध के मारे पागल हो उठी। वह आग उगलने लगी—कुछ कसर रह गई हो। जा, उसे भी पूरी कर आ। तूने मेरे कुल को धब्बा लगाया कुलच्छिनी।' कितने कठोर शब्द हैं!

सुभद्रा ने विनय के साथ मस्तक झुकाया और कहा माताजी! आप आज्ञा दें तो मैं जा सकती हूँ। आपको भी खरे-खोटे का पता लग जायगा।'

क्रोध ही क्रोध में सास बोला—तो चली जा न, किसने तुझे बाध रक्खा है?

सुभद्रा जाने को तैयार हुई। हजारो आदमी देखने के लिए इकट्ठे हो गए। शील के प्रभाव से शोभित सुभद्रासती रवाना हुई। कुएँ पर पहुँची तो वहा सब सामग्री तैयार थी उसने शासन देवी का नाम लेकर चालनी उठाई और कुएँ मे डाल दी। उसमें जब जल भर चुका तो कच्चे सूत से जल भरी चालनी खीच ली उसने दरवाजे पर जल छिडका और छिडकते ही दरवजा खुल गया। इसी तरह दूसरा, तीसरा और चौथा दरवाजा खुल गया। यह सब देखकर राजा और प्रजा मे अनन्द छा गया। सती सुभद्रा का जय–जयकार होने लगा।

सती सुभद्रा की निन्दा करने वाले भी अब प्रशसा करने लगे। धिक्कारने वाले धन्य-धन्य' कहने लगे।

सुभद्रा की सास ने आकर माफी माँगी। वह सुभद्रा के पैरो मे पडने लगे, पर सुभद्रा ने उसे पकड लिया। फिर सुभद्रा

ने कहा–माताजी, मै तो आपकी लडकी हूँ।' फिर कहा-माँ अब किसी को कलक मत लगाना। सास की आँखो से आँसू झरने लगे।

चारो ओर सती का जय–जयकार हुआ। उसकी खूब कीर्त्ति फैली। धन्य है प्रभावशाली सती सुभद्रा को!

जो स्त्री अपनी आपको निर्बल–अबला समझती है, वह कुछ भी नही कर सकती।



शैलक ऋषि



राज्य त्याग त्यागी बने, शैलक ऋषि सुकुमार,
वर्षों पाला त्याग-तप, अन्त हुए बीमार।
पाई फिर नीरोगता किया न किन्तु विहार,
देख शिथिलता तज गया, सकल शिष्य-परिवार।
गुरु-सेवा करता रहा, पंथक गुण की खान,
देख चरित उसका, हुआ शैलक ऋषि को भान॥

सेलकपुर मे शैलक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती और पुत्र का नाम मडूक था। उसके पाँचसौं मंत्री थे। पथक उन सब मे बडा था। वह बहुत बुद्धिशाली और विनयवान् था।

जहाँ मन्त्री अच्छे होते है वहाँ प्रजा सुखी होती है। वहाँ राजा और प्रजा मे प्रेम होता है। इसी कारण सेलकपुर के राजा और प्रजा के प्रेम की सब जगह प्रशसा होती थी।

एक वार भगवान् अरिष्टनेमि के शिष्य थावच्चाकुमार विचरते-विचरते वही आये। उनके साथ वहुत से शिष्य थे। नगर के वाहर सुभूमिभाग नामक वगीचे मे उन्होने निवास किया। राजा और प्रजा वहाँ गये और उनका उपदेश सुना ।

मुनिराज का उपदेश शैलक राजा को वहुत प्रिय लगा। वह थावच्चाकुमार मुनि का श्रावक-शिष्य वना। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—यह श्रावक के वारह व्रत कहलाते है। पथक वगैरह मन्त्रियो ने भी यह व्रत धारण किये। सव भोग-विलास की मर्यादा करके आत्मा का कल्याण करने लगे।

मुनि थावच्चापुत्र ने वहाँ मे विहार किया। उपदेश देते और विचरते-विचरते वे सौगधिका नगरी में पहुँचे और नीला-शोक नामक वगीचे मे उन्होने वास किया।

उसी नगरी मे एक सेठ रहता था। उसका नाम सुदर्शन था। सुदर्शन को शुक परिव्राजक पर श्रद्धा थी। वहुत-से लोग थावच्चापुत्र मुनि का उपदेश सुनने गये। सुदर्शन सेठ भी वहाँ गया। मुनि के उपदेश का उस पर वहुत असर पडा। प्रवचन पूरा हो चुकने के वाद सुदर्शन सेठ ने वहुत-से प्रश्न पूछे। उसके मन का समाधान हो गया। अत मुनि पर उसकी श्रद्धा और वढ़ गई।

यह बात शुक परिव्राजक को मालूम पडी । उसने सोचा- मेरे शिष्य पर ऐसा प्रभाव डालने वाला कौन है ? वह अपने एक हजार तापसो को साथ लेकर थावच्चापुत्र मुनि के पास पहुँचा। उसने मुनि से कुछ प्रश्न किये ठीक उत्तर सुनकर उसे लगा कि ऐसे ही मुनि जगत् का कल्याण कर सकते हैं। अपने हजारो तापस शिष्यो के साथ शुक सन्यासी ने थावच्चापुत्र मुनि के पास दीक्षा लेली । उन्होने पाँच महाव्रत स्वीकार किये और वह विहार करने लगे । विहार करते-करते वे शैलकपुर पहुँचे ।

कोई मुनि पधारे हैं, यह समाचार सुनकर राजा भी वहाँ गया । उपदेश सुनकर राजा ने भी त्याग का मार्ग ग्रहण करने का निश्चय किया । राजमहल में आकर मन्त्रियो की सलाह ली और मडूक को राज्य सौंपने की इच्छा प्रकट की । उसके पाँच सौ मत्री भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए ।

शैलक राजा अब शैलकऋषि हो गये। शैलकऋषि ने ग्यारह अगो का अभ्यास किया और बडे विद्वान् हो गये । शुक- देव गुरु ने पाच सौ मन्त्रियो को शैलक का शिष्य बनाया ।

शैलकऋषि अव पाँच सौ शिष्यो के परिवार के साथ विचरने लगे । शैलक के आत्मबल और तप का क्या कहना ! रूखा-सूखा खाते ! वह भी कभी मिलता, कभी नही मिलता ! यो करते-करते उन्हें पित्तज्वरका रोग हो गया।

गाँव-गाँव-विचरते हुए एक बार वे अपने ही गाँव मे पहुँचे । मडूक राजा उनके दर्शन करने गया ।-शैलक ऋषि को बीमार

देखकर राजा ने अपनी यानशाला में पधराने की प्रार्थना की। पाँच सौ शिष्य के साथ गुरु शैलकऋषि यानशाला में पधारे। मंडूक राजा ने वैद्यो और औषधियो का सुन्दर प्रवन्ध किया।

वीमारी का ठीक-ठीक निदान हुआ और औषध भी लागू हो गई। उन्हें खुराक भी अनुकूल मिलने लगी। थोड़े दिनों में शैलक ऋषि का शरीर नीरोग हो गया। तब शिष्यो ने गुरुजी से विहार करने की प्रार्थना की। पर खुराक अच्छी मिलने के कारण शैलकऋषि का सयम शिथिल हो गया था। शिष्य इस वात को समझ गये। उन्होने सोचा–'गुरुजी ससार त्याग कर त्यागी वने है, लेकिन अव फिर फिसल रहे है। तन्दुरुस्त साधु को विना कारण एक ही जगह नहीं रहना चाहिए'। यह सोचकर शिष्यों ने विहार करने की उनसे आज्ञा माँगी और सवने विहार कर दिया। सिर्फ अकेले पथकमुनि गुरु की सेवा में रह गये। पथकजी ने दूसरे सव विचार छोड़ कर एक मात्र गुरु की सेवा मे ही मन लगाया।

इस तरह कई महीने वीत गये। शैलकऋषि अव भी विहार करने का विचार नही करते। वे वढिया खाते हैं, पीते है और ऊघते रहते हैं। लेकिन पथकमुनि ऐसे गुरु की भी खूव भक्ति के साथ सेवा करते हैं। धन्य है ऐसे शिष्य और उनका धैर्य !

आज कार्तिक की पूर्णिमा का दिन है। पथकजी ने आज उपवास किया है। सध्या हुई और वे प्रतिक्रमण कर रहे हैं।

गुरुजी ने न उपवास किया है, न प्रतिक्रमण ही। वे नरम विस्तर बिछा कर पोढे हुए हैं।

पंथकजी ने चौमासी प्रतिक्रमण किया। चार महिनो में अनजान में या जान-बुझकर हुए दोषो के लिए पश्चात्ताप किया। अपने अपराधो की क्षमा मांगने के लिए गुरुजी के चरणो मे मस्तक नमाया। इससे गुरुजी के आराम मे वाधा पडी। उन्हे क्रोध आ गया। वोले– कौन है यह ?'

पथकजी ने मधुर और धीमे स्वर मे कहा–'भगवन् ! मै हूँ, आपका सेवक पथक। चातुर्मास समाप्त हो गया है। इसलिए मे क्षमा मांगने के लिए आपके पास आया हूँ और आपके चरणो में प्रणाम करने आया हूँ। आपकी निद्रा मे वाधा पड गई। इस अपराध के लिए भी क्षमा दीजिए गुरुदेव !'

इतनी नम्रता दिखलाने पर भी गुरुजी का क्रोध शान्त नही हुआ। निद्रा मे विघ्न डालने के कारण उन्होने पथकजी को अनेक अपशब्द कहे। मगर पथकजी ने धीरज रखकर, मीठे शब्दो से उन्हे मनाने की कोशिश की।

पथकजी की नम्रता अद्‌भुत थी। उनकी नम्रता के आगे पत्थर भी पीघल सकता था।

पथकजी को नम्रता और वचनो की मिठास से शैलक–ऋषि सचेत हुए। यह सोचकर कि, चौमासि प्रतिक्रमण के समय भी मै उंघता ही रहा, शैलकमुनि को पछतावा हुआ। वह सोजने लगे–मेरे शिष्य पथक को धन्य है, जिसने मुझे

जागृत कर दिया। मुझे धिक्कार है कि भोग-विलास का त्याग करके भी मै फिर उनके चक्कर मे पड गया। मै आराम-तलव बन गया।

इस प्रकार पश्चात्ताप आते ही उनकी आत्मा जाग उठी दूसरे ही दिन उन्होंने विहार कर दिया और पुण्डरीक पर्वत की तरफ चल दिये। वहाँ उन्होने घोर तप करना शुरू किया। यह जानकर दूसरे शिष्य भी ऐसा करने को तैयार हुए। अन्त तक सब वही रहे।

अपने चारित्र-गुरु को वोध देनेवाले पथक शिष्य धन्य है! शिथिलता को क्षण भर मे दूर करनेवाले शैलकऋषि धन्य है!



गजसुकुमार



ध्यान-लीन श्मशान में, गजसुकुमार मुनीश,
हा! सोमिल आया वहाँ, रखकर मन में रीस।
अंगारों से सिर जला, डिगे न फिर भी लेश,
सोमिल पर समता धरी, अन्त हुए परमेश॥

जहाँ भगवान् नेमिनाथ विराजमान थे वहाँ एक राजकुमार आया। राजकुमार का नाम गजसुकुमार था। उसकी चाल हाथी के समान गम्भीर थी और अग कमल के समान

कोमल । राजकुमार गजसुकुमार श्रीकृष्ण वासुदेव के छोटे भाई थे ।

गजसुकुमार ने भगवान् नेमिनाथ का उपदेश सुना । पूर्वभव के अच्छे सस्कारो के कारण उन्हे भगवान् का उपदेश वहुत रुचा । माता–पिता की आज्ञा लेकर, छोटी उम्र में ही उन्होने भगवान् से दीक्षा ले ली । राजकुमार अब मुनि बन गये ।

कहाँ राजमहल और कहाँ वन-विहार ? मगर गजसुकुमार का मन मजबूत था । सच है–जिसने अपने मन को जीत लिया उसने सारे ससार को जीत लिया ।

गजसुकुमार मुनि ने भगवान् नेमिनाथ से कहा–'भगवन्! मुझे मोक्ष का छोटे से छोटा मार्ग बतलाइए ।'

भगवान् ने कहा–आयुष्मन्! ध्यान ही मोक्ष का छोटा मार्ग है । ध्यान की सिद्धि उस समय होती है जब शरीर के ऊपर तनिक भी मोह न रहे । सदाचार, संयम, ज्ञान और तप जिसने प्राप्त नही किये, वह इस मार्ग पर नही चल सकता । यह मार्ग जितना छोटा है उतना ही कठिन भी है । पर तूँ इस मार्ग पर चल सकेगा, क्योकि तूँने बहुत–सी बाते पा ली हैं ।

गजसुकुमार–तो भन्ते! एकान्त मे जाकर ध्यान करने की मुझे आज्ञा प्रदान कीजिए ।'

भगवान्–हाँ वत्स! जा सकते हो । तुम्हारा मार्ग प्रशस्त हो । आत्म–ध्यान में मस्त हो जाओ । देखो, कैसे भी कष्ट आएँ तुम पर्वत की तरह अचल रहना ।

गुरु की स्वीकृति पाकर गजसुकुमार मुनि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने गुरुजी को मस्तक झुकाया, आशीर्वाद लिया और एकान्त स्थान पाने के लिए चल दिये। मुनि एकान्त स्थान के लिए श्मसान मे गये। श्मसान के समान एकान्त स्थल और कौनसा मिलता ! श्मसान अर्थात् मृतक मनुष्यो के आराम लेने का स्थान। जहाँ गजसुकुमार मुनि पहुचे वह श्मसान इतना भयानक था कि अकेला आदमी बिना घबराये रह नही सकता था। मुनि ने वहाँ पहुच कर स्थान का प्रमार्जन किया, कायोत्सर्ग किया और आत्मा का चिंतन करने लगे।

आत्मभाव का रस तो जो जाने सो जाने !

जिसने आत्मा को जान लिया, उसके लिए क्या जानना शेष रहा ?

गजसुकुमार ध्यान मे ऊँचे और ऊचे चढते जा रहे थे। उनकी काया स्थिर है। और उनकी वाणी तथा बुद्धि आत्मा से मिल गई है। इसी समय एक संकट आ गया, जिसकी कल्पना भी उन्होने नही की थी।

बात यह थी। गजसुकुमार की सगाई एक ब्राह्मण की कन्या के साथ हो चुकीथी। कन्या के पिता का नाम था सोमिल। सोमिल को पता चला कि मेरा दामाद विवाह से पहले दीक्षा लेकर साधु बन गया है ! बस फिर क्या पूछना ! सोमिल के क्रोध का पार न रहा। यो क्रोध का कारण साधारण था। सभी जातियो में कुवारी कन्या का दूसरे पुरुष के साथ विवाह

हो सकता है मगर सोमिल तो पूर्वभव का लेनदार ठहरा, सच्ची बात उसके ध्यान मे कैसे आती ? सोमिल ने गुस्से ही गुस्से में विचार किया—सगाई करके, विना ही कारण, मेरी लडकी को त्याग देने वाले इस साधुडे की अच्छी तरह खबर लेनी चाहिए।' इस तरह विचार करके वह गजसुकुमार की खोज मे निकला।

उसने गजसुकुमार को श्मसान में खडा देखा। देखते ही उसके मन मे पहले भव का क्रोध भड़क उठा। उसने इधर उधर नजर दौडाई। कोई दूसरा आदमी वहाँ नजर न आया। अच्छा मौका मिल गया। उसने थोडी दूर चिता में खैर के अंगार देखे। मुर्दे को जलाकर लोग चले गये थे। सोमिल उन दहकते हुए अंगारो को उठा लाया और गजसुकुमार के पास गया।

गजसुकुमार मुनि आत्मध्यान में स्थिर खडे थे। सोमिल को इससे और सुभीता हो गया। उसने पहले गीली मिट्टी लेकर माथे के चारो तरफ पाल बनाई। मुनि का मस्तक जब सिगडी सरीखा बन गया तो उनमे अगार भर दिये। मुनि का शरीर सुकुमार था और सिर विना बालो का था।

तड–तड करके चमडी तडकने लगी। अन्त मे खोपडी फट गई। आह ! कितनी भयङ्कर वेदना मुनि को हुई होगी ! मगर धन्य हैं मुनिराज गजसुकुमार ! वे जानते थे कि आत्मा नित्य है और अनित्य शरीर है। इस ज्ञान के कारण वे आत्म-ध्यान में दृढ से दृढ़तर होते गए।

सोमिल ब्राह्मण पर उन्होने तनिक भी क्रोध नही किया। क्रोध वह करता है जो आत्मा को नही पहचानता। जो आत्म-ज्ञानी है वह क्रोध नही करता। मुनि ने सोचा–बेचारा सोमिल तो निमित्तमात्र है। इस दु.ख का असली कारण तो मैं स्वय ही हूँ। मैंने पूर्वभव में जैसे कर्म किये हैं, उनका फल अब भोगना ही होगा। अपने पूर्वकर्म को खपाने के लिए निमित्त मिल जाता है। उस निमित्त पर क्रोध करने से क्या लाभ है? गजसुकुमार मुनि ने सीधी बात सोची कि–दूसरो के ससुर तो कपडे की पगडी बंधाते हैं, पर मेरा ससुर मुझे मोक्ष की पगडी बधा रहा है।'

इस प्रकार सोमिल पर क्रोध न करके मुनिराज ने उसका उल्टा उपकार माना। वे आत्मा का ही विचार करते रहे और अन्त मे मोक्ष के अधिकारी बने।

धन्य है गजसुकुमार मुनि की क्षमा!
धन्य है गजसुकुमार मुनि का ध्यान!
धन्य है गजसुकुमार मुनि की भावना!

बालको! इस उदाहरण से इतना जरूर समझ लेना कि वैर का बदला किसी न किसी भव मे अवश्य चुकाना पडता है। बदला चुकाये बिना कोई छुटकारा नही पा सकता। इसलिए किसी के साथ वैर मत करना।

क्षमा एक बडा गुण है। इस गुण की बदौलत आखिर में शत्रु भी मित्र बन जाता है।

जो महापुरुष आत्मा और देह को जुदा–जुदा समझ लेता है, वह स्वय आगे बढकर अच्छे काम कर सकता है।

मतलब यह है कि समझदार आदमी दूसरो के दोष नही देखता। वह दूसरे के गुणों को देखता है और अपने दोषो को देखता है। और फिर अपने दोषो को दूर कर देता है।



काव्यविभाग



(१) प्रातः प्रार्थना



(शिखरिणी छंद)

प्रभो ! अन्तर्यामी जगत–जन का तूं शरण है,
पिता माता भ्राता अनुपम सखा भद्रकर है ।
प्रभा कीर्ति कान्ति धन विभव सर्वस्व जन के,
नमूं मैं वदूं मैं विमलसुख स्वामी जगत के ॥
असत्यो से स्वामी परम सत् की ओर कर दे,
घना अंधेरा है हृदय–थल आलोक भर दे ।
महामृत्यु में से अमृत–तट की ओर कर दे,
वियोगी हूँ तेरा जिन दरस का दान कर दे ॥
दयासिन्धो ! देव प्रवर जलधे ! पुण्य–यश के,
वहे ऐसी धारा सतत तुझ से देव ! नित ही ।
अनोखी हो शान्ति सकल जग के जीवगण में,
न व्यापे किंचित् भी दुख–दरद पृथ्वी पर कभी ॥

(२) प्रभु का नाम-रसायन

प्रभु-नाम का सेवे रसायन पथ्य पर पाले नही,
तो लेश फल पावे नही भव-रोग भी जावे नही ।
हैं प्रथम पथ्य असत्य भाषण भूल कर करना नही,
औ साथ ही निन्दा किसी की तथ्य[1] भी करना नही ।।
अपनी बडाई आपके ही वदन[2] से करना नही,
जिदगी भर [3]दुर्व्यसन सेवन कभी करना नही ।
आप सम सब प्राणियो को देख दुख देना नही,
पर सम्पदा पाषाण है, यह जानकर लेना नही ।।
अन्त करण हो शुद्ध सात्त्विक सर्वदा न मलीन हो,
दभ दुर्जनतादि [4]दोषो में कदापि न लीन हो ।
माता समान लखे परस्त्री दृष्टि विकृत हो नही,
तल्लीन हो प्रभु के भजन में व्यर्थ क्षण खोवे नहीं ।।
मै हूँ बडा अभिमान ऐसा चित्त मे करना नही,
परमार्थ से सामर्थ्य होते पैर भर हटना नही ।
स्वार्थ-साधन के लिए भी पाप आचरना नही,
छल-कपट मायाचार अतिम श्वास तक करना नही ।।

---

१ तथ्य-ठीक, सही । २ वदन-मुख ३ दुर्व्यसन-बुरी आदत ।४ दुर्जनतादि-दुर्जनता आदि ।

सेवा जगत् के प्राणियो की ईश-सेवा है मही,
यह भावना अन्त करण मे से निकल जावे नही।
यह ऊँच है, यह नीच है, यह भेद-प्रभुपथ मे न हो,
सेवे रसायन ज्ञानयुत हो व्यग्रता मन मे न हो ॥
प्रभु-नाम का सेवे रसायन पथ्य भी पाले सही,
ससार—मायाजाल मे मन को फँसावे भी नही।
तो यह स्वय ही आत्मा परमात्मपद पावे अहो,
प्रभुनाम की महिमा अनोखी, कौन कह सकता कहो ?॥

(३) पाँच इन्द्रियों के विषय

(१) त्वचा का विषय स्पर्श

लेने करी के दात वन मे वास तृण गडहे भरे,
झूठी वनाकर हस्तिनी उसके समक्ष खडी करे।
वह हस्तिनी गज[1] के लिए तो मृत्यु का ही धाम है,
सोच मानव! विपय—विप का क्या वुरा परिणाम है ॥

(२) जीभ का विषय रस

पहुँच सागर—तीर धीवर जाल फैलाता अहो,
पर मत्स्य वेचारे कपट—छल को कहाँ जाने कहो ?
हा! जीभ की ही गृद्धि[2] मे वस अत काम तमाम हैं।
सोच मानव! विपय—विप का क्या वुरा परिणाम है।

१. गज—हाथी। २. गृद्धि—लालच।

(३) नाक का विषय गन्ध

बैठता भौरा कमल पर गन्ध का लोभी बना,
फिर वन्द हो जाता उसी में गन्ध-लोलुपता सना।
आता द्विरद[1] खाता कमल लेता भ्रमर के प्राण है,
सोच मानव ! विषय-विष का क्या बुरा परिणाम है ॥

(४) आंख का विषय रूप

हाथ मे ले दीप कहिए कूप में को जात है,
दीप-की द्युति देख किन्तु पतग मन ललचात है।
वह दीप में ही भस्म होता मूर्खता अप्रमाण[2] है,
सोच मानव ! विषय-विष का क्या बुरा परिणामहै ॥

(५) कान का विषय शब्द

वन मे शिकारी पहुँचकर गाता मधुर सगीत है,
भोला हिरन जाता निकट होता नही भयभीत है।
हा ! तब शिकारी प्राण लेने छोड देता वाण है,
सोच मानव ! विषय-विष का क्या बुरा परिणाम है ॥



द्विरद-हाथी । २ अप्रमाण बेहद ।

(४) प्रभु महावीर

राग–माढ

जयवता प्रभु वीर, हमारा जयवन्ता प्रभु वीर,
शासन-नायक धीर, हमारा जयवन्ता प्रभु वीर।
शास्त्र-सरोवर सरस आपका तत्त्व-सुधा भरपूर,
नित्य नहाते तरते उसमे, होवे कलमष दूर ॥ हमारा ०॥
सात्विकता से उद्गम जिसका, वास्तविक तत्त्वस्वरूप,
आस्तिकता मे रमिये उससे हो, आनद अनूप ॥ हमारा ०
आप प्रकाशित ज्ञान-बगीचे, खिले सुरभिमय फूल,
सरस सुगधित वायु-लहर मे, हैं हम सव मशगूल ॥ हमारा ०॥
नाम आपका निशिदिन प्यारा, भविजन जीवन-मूर,
उसके लिए प्राणधन देने, हम सदैव मजूर ॥ हमारा ०॥
मार्ग बताकर मेरे ऊपर, किया महा उपकार,
अर्पण करे समस्त तथापि, होय न प्रत्युपकार ॥ हमारा ०॥
चरण आपके शरण हमारे, मरण–जन्मभय दूर,
लोभी चातक रत्न-चन्द्र, सम तव दर्शन आतुर ॥ हमारा ०॥

(मूल लेखक शता· मुनि रत्नचन्द्रजी म.)

(५) देखो रे देखो रे जैनो

महापुरुष

देखो रे देखो रे जैनो ! कैसे व्रतधारी,
कैसे व्रतधारी पहले हुए नर-नारी ॥ देखो० ॥
देखो देखो जम्बूस्वामी, बालवय मे बोध पामी,
तजी राजऋद्धि सारी, तजी आठ नारी,
तजी आठ नारी उनको वदना हमारी ॥ देखो० ॥
गजसुकुमाल प्यारे, माथे सहे हैं अंगारे,
अचल रहे वे योगी, डिगे न लगारी,
डिगे न लगारी उनको वदना हमारी ॥ देखो० ॥
कोशा के मन्दिर मध्य रहे मुनि स्थूलिभद्र,
वेश्या घर वसने पर भी, हुए न विकारी ।
हुए न विकारी उनको वदना हमारी ॥ देखो० ॥
महासती राजुल जैसी मिले दूसरी न ऐसी,
पतिव्रत पालन करने, रही वह कुँवारी,
रही वह कुँवारी उनको वदना हमारी ॥ देखो० ॥
सती थी कलावती महा, शखपुर माहि अहा !
कर निज कटे तो भी रही टेकधारी,
रही टेकदारी उनको वदना हमारी ॥ देखो० ॥
जनकसुता वह सीता, एक युग पूरा बीता,

घोर दु.ख भोगे तो भी डिगी न लगारी ।
डिगी न लगारी उनको वंदना हमारी ॥ देखो० ॥
दिये दुःख खूब देव भोगे सब कामदेव,
भोग कर भी दुःख अहा ! डिगे न लगारी ।
डिगे न लगारी उनको वंदना हमारी ॥ देखो० ॥
धन्य धन्य वे नरनारी, ऐसे दृढ धर्मधारी,
जीवित सुधारा सारा, पाये भव पारी,
पाये भव पारी उनको वंदना हमारी ॥ देखो० ॥



(६) भावना

—卐—

रात्रि में शीघ्र सो करके सुबह जल्दी उठूंगा मैं,
जिनेश्वर का भजन करके हृदय निर्मल बनाऊँगा ॥१॥
पिता-मातादि गुरुजन का तथा निज मातृभूमि का,
चुकाने के लिए कर्जा सदा कर्त्तव्य पालूंगा ॥ २ ॥
मधुर अरु सत्य बोलूंगा मिले खारा कि या मीठा,
भाग निज बंधुओ को दे करूँगा मैं सदा भोजन ॥ ३ ॥
भले मोटी रहे खादी हमारी है वह आबादी,
सादगी स्वच्छता वाले अहिंसक वस्त्र पहनूंगा ॥ ४ ॥
कलह को हाथ जोडूंगा न न्यूनाधिक गिनूंगा मैं,

दान देकर खुशी होना खरा यह धर्म धारूँगा ॥ ५ ॥
वीर सन्तान बनने पर है डर किसका बताओ तो ?
मिला जो सत्य परवाना उसे ले स्वैर विचरूँगा ॥ ६ ॥
नीति नेकी अचल प्रीति अहिंसा वीर की नीति,
रमा करके हृदय में हम जगत् मे शान्ति फैलाएँ ॥७॥

(७) धुन

(१)

ॐ अन्तर्यामी देव !
शुद्ध चित्त हो करूँ सेव,
चित्त शान्ति नित्यमेव,
ॐ अन्तर्यामी देव !

(२)

अभिमान तजो, अभिमान तजो,
प्रभु बनने को अभिमान-तजो ।

(३)

भगवन्त भजो भगवन्त भजो,
भव अन्त करन भगवन्त भजो

(८) मेरी भावना

जिसने राग द्वेष कामादिक, जीते सब जग जान लिया ।
सब जीवो को मोक्ष-मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ॥
बुद्ध, वीर, जिन हरिहर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो ।
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह, चित्त उसी में लीन रहो ॥ १ ॥
विषयो की आशा नही जिनके, साम्य-भाव धन रखते हैं ।
निज-पर के हित-साधन में जो, निश-दिन तत्पर रहते हैं ॥
स्वार्थत्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते है ।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के, दुःख समूह को हरते हैं ॥ २ ॥
रहे सदा सत्सग उन्ही का, ध्यान उन्ही का नित्य रहे ।
उन ही जैसी चर्या में यह, चित्त सदा अनुरक्त रहे ॥
नही सताऊ किसी जीव को, झूट कभी नही कहा करू ।
परधन वनिता पर न लुभाऊ, सतोषामृत पिया करू ॥ ३ ॥
अहंकार का भाव न रक्खू, नही किसी पर क्रोध करू ।
देख दूसरो की बढती को, कभी न ईर्ष्याभाव धरू ॥
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल-सत्य-व्यवहार करू ।
बने जहाँ तक इस जीवन मे, औरो का उपकार करू ॥४॥

मैत्री-भाव जगत में मेरा, सब जीवो से नित्य रहे।
दीन-दुखी जीवो पर मेरे, उरसे करुणा-स्रोत बहे ।।
दुर्जन-क्रूर कुमार्गरतो पर, क्षोभ नही मुझको आवे।
साम्यभाव रक्खूँ मै उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ।। ५ ।।
गुणी-जनो को देख हृदय मे, मेरे प्रेम उमड आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे ।।
होऊ नही कृतघ्न कभी मै द्रोह न मेरे उर आवे।
गुण ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषो पर जावे ।। ६ ।।
कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे।
लाखो वर्षों तक जीऊ या, मृत्यु आज ही आ जावे ।।
अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आवे।
तो भी न्याय मार्ग से मेरा, कभी न पद डिगने पावे ।। ७ ।।
होकर सुख में मग्न न फूले, दुख मे कभी न घबरावे।
पर्वत-नदी स्मशान-भयानक, अटवी से नही भय खावे ।।
रहे अडोल-अकम्प निरन्तर, यह मन दृढतर बन जावे।
इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग में, सहन शीलता दिखलावे ।। ८ ।।
सुखी रहें सब जीव जगत् के, कोई कभी न घबरावे।
वैर-पाप अभिमान छोड जग, नित्य नये मगल गावे ।।
घर-घर चर्चा रहे धर्म की दुष्कृत दुष्कर हो जावे।
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना, मनुज जन्म फल सब पावे ।।९।।

ईति-भीति व्यापे नही जग मे, वृष्टि समय पर हुवा करे।
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजा का किया करे ॥
रोग-मरी दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्ति से जिया करे।
परम अहिंसा धर्म जगत मे, फैल सर्वहित किया करे ॥१०॥
फैले प्रेम परस्पर जग मे मोह दूर पर रहा करे।
अप्रिय कटुक कठोर शब्द नही, कोई मुख से कहा करे ॥
बनकर सब 'युग-वीर' हृदय से, देशोन्नतिरत रहा करे।
वस्तुस्वरूप विचार खुशीसे, सबदु ख-सकट सहा करे ॥११॥

समाप्त

परीक्षार्थियों से—

शरीर के लिए खुराक जितनी आवश्यक वस्तु है, आत्मा लिए धार्मिक (आध्यात्मिक) शिक्षण उतना ही जरूरी है। र्मिक शिक्षा को व्यवस्थित रूप देने के लिए और शिक्षण स्थाओ में सफलता लाने के लिए ही श्री तिलोक रत्न स्थान-वासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी की स्थापना हुई है। स्थाएं परीक्षा बोर्ड में अधिकाधिक सख्या में छात्रो को सम्मि-ल्त करा रही हैं और छात्र भी इस दिशा में विशेष उत्साह खा रहे हैं, यह समाधान का विषय है। परीक्षार्थियो की विधा के लिए बोर्ड ने पुस्तक-प्रकाशन विभाग स्थापित किया । विद्यार्थियो को इस विभाग द्वारा प्रकाशित पुस्तको का ग्य लाभ उठाना चाहिए ।

मन्त्री—पुस्तक प्रकाशन विभाग

श्री ति. र. स्या. जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

'सुधर्मा मासिक पत्रिका'

परीक्षार्थिओं के ज्ञान-विकास हेतु इस पत्रिका का प्रका-शन परीक्षा बोर्ड द्वारा प्रारम्भ किया गया है।

विद्यार्थियों के लिए वार्षिक शुल्क केवल

५ रु. निर्द्धारित है।

सुधर्मा कार्यालय

Po पाथर्डी (अहमदनगर)